जैनेन्द्र की कहानियाँ

(चौथा भाग)

ISBN 81 7037 013

प्रदीप कुमार

सम्पादक - निदेशक

- मूल्य 40 00 रु
- प्रकाशक पूर्वोदय प्रकाशन
  7/8 दरियागंज नई दिल्ली 110 002
- © प्रदीप कुमार
- संस्करण 1990 (प्रथम संस्करण 1953)
- मुद्रक अग्रवाल प्रिंटर्स, दिल्ली - 110 006

JAINENDRA KI KAHANIYAN PART 4
(COLLECTION OF SHORT STORIES) BY
JAINENDRA KUMAR



पूर्वोदय प्रकाशन

7/8 दरियागंज नयी दिल्ली

जाह्नवी

तथा अन्य कहानियाँ

(चतुर्थ भाग)

जैनेन्द्र कुमार

ज्ञान जानन म नहीं वैसा जनन में है।

—जैनेन्द्र कुमार

प्रकाशक की ओर से

दुनिया के सभी श्रेष्ठ-साहित्यों में स्त्री पुरुष के परस्पर सम्बन्धों के विविध सामाजिक रूपों को विशेष स्थान दिया गया है। प्रेम और विवाह की समस्या का विवेचन और विचार अनेक साहित्यकारों ने किया है, और सभी में पाठकों को कुछ-न-कुछ आकर्षण भी लगता है। किन्तु सामाजिक जीवन की इस आधारभूत समस्या के विषय में जैनेन्द्रजी का अपना मौलिक दृष्टिकोण है। स्त्री-पुरुष प्रेम और विवादपरक सामाजिक सम्बन्धों को वह एक उदात्त, मानवीय, सूक्ष्म-दृष्टि से देखते हैं और उसके यथार्थ सत्य तक पहुंचकर जीवन के सतही सम्बन्धों के मिथ्यात्व को झकझोर देते हैं। इसीलिए 'सेक्स' की समस्याओं के प्रति भी उनका दृष्टिकोण दूसरे साहित्यकारों से भिन्न तथा एकदम मौलिक है।

प्रस्तुत कहानी-संग्रह में प्रेम और विवाह से सम्बन्धित या स्त्री-पुरुष के परस्पर सामाजिक सम्बन्धों की तात्त्विक गहराई की यथार्थता को प्रकट करने वाली श्रेष्ठ-कहानियां हैं। 'ब्याह', 'भाभी', 'मास्टरजी', निस्तार' आदि सभी कहानियां पाठकों को इस विषय में एक मौलिक दृष्टि ही नहीं प्रदान करती, बल्कि कहानी कला के अद्वितीय उदाहरण के रूप में उनको अपनी ओर आकर्षित भी करती हैं।

क्रम

[illegible]

जब से लड़के जानते हैं स्कूल के सेकेण्ड [illegible] उनका नाम है महामहिम घोषाल। अवस्था [illegible] हैं और विनोदी स्वभाव के जीव हैं। लड़कों [illegible] विकृत होती है, इसमें उनका छोटा नाम [illegible]

बंगाल देश छोड़कर यहाँ अलीगढ़ [illegible] घोषाल महामहिम बैठ आ गए, उसकी [illegible] को छोड़ना कठिन हो जायगा। संक्षेप [illegible] उनके पिता ऊपर से उठ गये, आप [illegible] पान की जल्दी मचाने में घर में आ [illegible] माता शीघ्र धराधाम से प्रयाण [illegible] कानों में पत न लेकर चारों ओर [illegible] महीना बाद जो तीर ठीक [illegible] जिले के अनरोली कस्बे पर [illegible] महामहिम यहाँ ही बसे हैं।

युवती हो गई है। महामहिम ने पति के प्रेम से भी अधिक माता के प्रेम से उसे खिलौने सा लाकर दिये हैं और गरदई मस्ती के झुण्ड तल-तल में मिलाये हैं। अपने को दुनिया में समर्थ पाया, तभी से अपने सामर्थ्य द्वारा गोपनीया वधू को उसने अपने घर में पाया है। मां जब जल्दी ही ऊपर से बैठ गई तब बाहर में गिरस्ती के योग्य सामान जुटाने और घर के भीतर भी सब कुछ संवारने और सम्भालने का काम उस पर आ रहा है। यह अबोधा अनजान एक अतिरिक्त काम की ही भांति उस पर रही है। वह सबको निबाहता चला आया है। इस निबाह में उसे रस का सचमुच अभाव भी कभी नहीं प्रतीत हुआ है। कभी यदि कुछ प्रत्याशा मन में उठी है तो वह सोच लेता रहा है कि यह बरस बीतते-बीतते तो हमारी श्यामा सारी गृहस्थी अपने ऊपर ले लेने ही लगी है। बस बस्ताला कुछ ही रोज का है।

श्यामकला भी एक एक कला के उदय के साथ निखरती ही आई है। यहीं से वह धीरे धीरे करके मनमोहिनी होने लगी है। पहले खेलती थी अब बाल काढ़ती है। वह तरह-तरह के बाल काढ़ना जानती है। वह चाहती है कि उसके स्वामी देखें कि वह अब बच्ची नहीं रह गई है। देखें कि वह कैसे भांति भांति के बाल काढ़ती है और बदल बदलकर नये कपड़े पहनती है। महामहिम आते हैं तो कहते हैं 'ओ हो—श्याम कलानिधि सोहैं'—

श्यामा सुनकर नाराज हो जाती है। वह क्या सदा बहलाने की चीज है!—वह सोचती है।

महामहिम कहते हैं "कामकला सी जो श्यामकलीजा कहिये।'

श्यामा अत्यन्त क्रुद्ध हो जाती है।

स्वामी कहते हैं, 'क्या बात है?

और वह रूठकर चली जाती है।

तब स्वामी देखते हैं चूल्हा ठण्डा है रसोई में कोई तैयारी नहीं है। उस समय वह लकड़ा-कण्डा लेकर चूल्हे को चेताने के जतन में लगते हैं। खाना बन-बना चुकता है तब अन्दर जाकर कोठरी में चादर लिये पड़ी हुई पत्नी से कहते हैं, 'चलो खाना खा लो।'

वह चादर जोर से चिपटाकर कहती है, 'हटो-हटो, मुझे भूख नहीं है।'

महामहिम कहते हैं, 'मैंने मच्छी का झोल बड़ा स्वादिष्ट बनाया है, चलो तो।'

करते करते श्यामकला चलती है, भोजन करती है और चौके की सार-सभाल करके महामहिम स्कूल चले जाते हैं।

किन्तु यह तो जब अतरौली आये-आये थे, तब की कथा समझनी चाहिए। अब वह बात नहीं है। अब श्यामकला बच्ची श्यामा नहीं है। अब एक पहाड़ी नौकर भी घर में है जो रोटी बासन सब काम करता है। श्यामकला अब और भी अच्छे बाल काढ़ना जानती है। महीन व नफीस कपड़े की उसे अब ज्यादा अच्छी पहचान है। पहनती भी उन्हें अब कहीं ज्यादा अच्छे सलीके से है। वे कपड़े उस पर अब बहुत अच्छे खिलते हैं। लेकिन अब वैसी हद तक बात पर वह तुनक नहीं जाती। अब वह महामहिम को ऐसे नहीं देखती कि मैं अब रूठी अब रूठी। अब तो उसके चलन में धीरज रहता है और आँख में, कहा, आशा। अब तो भगनी वह नहीं है जैसे कुछ सामने का और बढ़ना ही चाहती है। अब तो तनिक भी महामहिम को खिजाने की बात नहीं सोचती। नहीं अब वह बहुत समझदार है। सोचती यह है कि रिझाना कैसे होगा। किन्तु यौवन क्या कुछ अपना हक न रखे? क्या अपने वर्तमान में इतना मग्न वह न हो सके कि अतीत का रिक्त भर जाय? अब जब कि उसमें अपेक्षाशील यौवन है तब भी क्या अधिकारापेक्षिणी, पत्नी वह न हो सकेगी?

पर यह मास्टर महामहिम लड़कों को पढ़ा-पढ़ाकर जब आते हैं तो आकर कहते हैं, 'कामकला भी जो श्यामकला पुनि श्यामकले किधौं कामकले!'

और श्यामकला इस पर फुनककर रह जाती है।

दिन-पर दिन बढ़कर आती हुई यह श्यामकला किसी प्रकार वह नहीं है जो नन्ही सी थी, यह बात महामहिम को तो किसी क्षण सूझ पाती ही नहीं है। उसके निकट यह श्यामा स्नेहपोष्या न हो, क्या कभी भी ऐसा होगा?

मोशाय बाबू स बालक खूब खुश हैं। उनकी अंग्रेजी की योग्यता की मास्टरो म भी खब धाक है लडको म तो है ही। स्कूल मे अधिकतर अंग्रेजी ही वह पढाते थे। लेकिन उनक घण्टे म बालक पढ़न म ज्यादा हँसते हैं। क्योकि मोशाय बाबू को नाराज होना नही आता। हम तो यह कहग कि जब उनम गुस्सा तक करते नहीं बनता, तो पढाना ता क्या खाक बनेगा ? और यह अमिट सत्य ही समझिये की जो स्वय योग्य है वह मास्टर चलताऊ (Indifferent) ही है। शिष्य के पीछे डण्डा ता उससे उठाते बनता नही तब आप ही सोचिय, अध्यापकी उससे किस प्रकार बन सकेगी ?

क्लास म मास्टर मोहामहिम मोशाय बालको की पाठयपुस्तक की कहानी के साथ कभी विलायत के इतिहास की कहानियो म पहुच जाते है। वहा स जान क्या महारा पकडकर अपनी ही कथा पर उतर आन है आमरा देश बगाला हय। बहुत सुन्दर देश हय। उहा बाडा-बोडा फल होता हय। बगाला भूमि बहोत जरखेज हय। रोकम रोकम उहा मीठाई हाता हय। आमरा देश का इस्त्री लोग बेशी सुन्दर हय। आमरा बहू का नाम तुम लोग जानता हय ? उसका नाम श्यामकान्ता बाला, के श्यामलोता क श्यामकान्ति के बाला श्यामबाला। सब ठीक हय। रग अल्बत्त श्याम हय। कि तु वहान सुन्दर दखता हय। हामको वहात धन दहेज म दता था हाम नही लिया। आमरा बाहू बहोत बोडा घर का हय। हामको बहोत प्यार करता हय ।

बालक य कथाए सुनकर बडे प्रसन्न थे। किताब का जब कि एक भी शब्द उनके मन पर न टहरता तब देश बगला की तरह तरह की मिठाइया और भाति भाति के फल मानो उनके सामने वही प्रत्यक्ष हो जाते थे। य बालक मोशाय मास्टर क घर काम बकाम भी पहुचा करत और तरह-तरह के उपहार जाकर मास्टरनीजी को दिया करते थे। मास्टरनीजी भी बालको का प्यार करती थी। इसस जब मोशाय मास्टर उनकी मास्टरनीजी का जिक्र उन्ह सुनाते तो बडा अच्छा लगता था।

। कहते मास्टरजी किताब पढाइय जी, किताब !

तो कहते ओ, तुम लोग बोदमाशी करता हय। किताब पढो

किताब। तुम लोग फेल होगा तो आमरा नाक कटेगा। बोलो, "कैसाबियक्षा कौन था? उशका क्या कहनौ हय।

थोड़ी देर पढ़ाई चलती और मास्टरजी कहते, 'तुम बंगला देश में कोलीकाता शहर का नाम सुना हय? बहोत बडा शहर हय। रोकम-रोकम का गाडी उहां चलता हय। रेल चलता हय, इस्टीमबोट चलता हय, ट्राम-गाडी, मोटर गाडी, रिकशा गाडी वोगैरा वोगैरा बहोत रोकम का गाडी चलता हय। स्टीमबोट तुम लोग जानता हय? वह स्टीम का जोर से चलया हय। ऊहां हुगली दरिया हय। उसका ऊपर बहोत बडा पुल बना हय। हामने ओही से एफ० ए० पास किया। आमरा शादी उसके बाद हुआ। हाम पहले उजला बोहू चाहता था। शादी का वक्त आमरा बोहू दश बरश का था। आमरा बोहू का उज्जल रंग नेई परन्तु अति सुन्दर। हामरा बोहू खूब भोला।"

बालक याद दिलाते, "मास्टरजी, कैसाबियका!" और मास्टरजी एक साथ कठोर होकर कहते, "ओ, तुम लोग खेल करना मांगता हय। खेल नाहीं चलेगा। शोबक पढो, शोबक। तुम लोग फेल होगा तो बहोत बुरा बात होगा। हेडमास्टर हामको बोलेगा। हाम बोलेगा लरका लोग बरा शिताल हय।"

यों कमची-पूवर्क न पढ़ाते थे तो क्या, वैसे उनके विषय में विद्यार्थी कमजोर नहीं रहते थे। विद्यार्थियों का और उनका आपस में बड़ा अपनापा हो गया था। मास्टरजी अपने घर की छोटी-छोटी बातों को लड़कों के सामने ऐसे पेश किया करते थे मानो सलाह मांगते हों, अबोध बालक उन बातों में से और कुछ सार ग्रहण करते न हो हो, मास्टरजी का स्नेह तो ग्रहण करते ही थे।

स्कूल मिडिल-स्कूल था और बतरौली कस्बा भी बड़ा न था। हमारे मोशाय बाबू में रक्त-जब्त बढ़ाने और बढ़ाकर खुद बढ़ने की सिफत ज्यादा न थी। पैंतीस रुपये के यहां मास्टर लगे और तीन रुपये प्रति वर्ष तरक्की पाते-पाते अब उनके पचास रुपये से कुछ अधिक हो गये थे। वेतन के रुपये पा लिये, लम्बी छुट्टी हुई तो कभी अपने देश बंगला घूम आये, नहीं तो बालक विद्यार्थियों में और अपने सङ्गी मास्टरों में मिल-बोलकर वह

वह रह लिया करते थे। कोई लड़का कभी उनका पानी भर देता, कभी और कुछ और कर देते। इस प्रकार मास्टरजी, बिना ज्यादा फिक्र पाल और बिना ज्यादा मेल मुलाकात का परिग्रह बढ़ाये, अपने दाम में नियुक्त युवती श्यामकला के भर्तार बड़े मजे में जिये चलते थे।

किन्तु एक अवस्था ऐसी होती है कि व्यक्ति प्रेम पाये, इतने ही से उसका जी नहीं भरता। वह इस बात को भी चाहता है कि यह प्रेम उसे मिल ही नहीं रहा है प्रत्युत वह उस प्रेम को अपने बल से खींच रहा है। यौवन इसी अवस्था का नाम है। जो प्रेम निरपेक्ष होकर दान की तरह दिया जाता है उसके स्वीकार पर रहना यौवन का अपमान भी हो सकता है। जिसे अपनी शक्ति का भरोसा है, वह दान कैसे ले सकेगा? उपार्जित अर्थ ही उसके लिए अर्थ है। या विश्व की समस्त सम्पत्ति में भी उसे तृप्ति नहीं है।

श्यामकला जैसी भी हो इस ओर से असम्बद्ध होकर जो उसे दिया ही जाता रहेगा, क्योंकि दिया ही जाता रहा है, उस प्रेम को लेकर यौवन गर्विता श्यामकला का जी कैसे भरे? जो विवश नहीं है, जिस प्रेम में उन्माद नहीं है जिसमें चाह की धार नहीं है, उसको वह श्यामकला कैसे-समझ ले कि वह उसका अर्जित है उसका अपना है, उसका स्वत्व है? क्या पाने पर क्या कन्या माता और पिता के सहज प्रेम से बाहर नहीं बढ़ चलती? क्या उसमें अपेक्षा नहीं जागती कि कोई प्रेम हो जो उसके बेटी या बहन होने के कारण उसे स्वभावत ही न मिलता हो, प्रत्युत उसके अपने ही कारण उसके अपने ही जोर पर उसे मिले? क्या उसे नहीं अनिवार्य चाह हो आती उस प्रेम की जो उसके रूप, उसके यौवन, उसके अन्तस्थ स्त्रीत्व की माँग के उत्तर में विवश होकर उसमें खिंचा चला आये जैसे आग में पतंग? ऐसा प्रेम जब तक वह प्राप्त करे न मिले, तब तक पिता के साथ स्नेह के होते भी क्या उसमें कुछ आकांक्षा कुछ अभाव, कुछ कसक बनी ही नहीं रहती?

श्यामकला को तो स्वामी की ओर से सदा ही सचिन्त प्रेम मिलता रहा है। वह नाराज हुई है तब भी उसे लाड से मना लिया गया है। हँसी है तब भी उसके साथ हँस लिया गया है। उसकी तबीयत की सदा रक्षा

की गयी है। सदा ही सब बातों में उसे बहला रखा गया है। क्या वह इस स्नेह के मूल्य को नहीं जानती? लेकिन—

लेकिन महामहिम अपने प्रेम को किस प्रकार कैसे गाढ़ा करें कि उसमें उद्वेग दिखाई दे? वह प्रेमधारा उसमें क्या कमी रखती भी है, जो गतिशील दीखे? क्या वह वही उफती है, जो कभी उत्कट भी हो? क्या उसमें द्वन्द्व है कि वहां विक्षिप्त फेनिल लहरें उठें? तरंगहीन, कूलबद्ध एकरस होकर ही तो प्रेम इस महामहिम में श्यामकला के प्रति बह सकता है क्योंकि वह उसमें गहरा होता गया है।

यह क्या बात है कि वह मुझ पर कभी नाराज भी नहीं हो सकते हैं—श्यामकला सोचती है—'क्यों वह नहीं मानते कि मैं पूर्ण स्त्री हूं? क्यों वह मुझे बहलाते ही हैं धमकाते नहीं, जब कि मैं बच्ची हूं? मैं नहीं चाहती अच्छा पहनना, अच्छा रहना। फिर वह क्यों नये-नये कपड़े लाकर दिये जाते हैं? और जब मैं उन्हें पहनती हूं तब क्या उनकी निगाह से वे ही कपड़े नीचे रह जाते हैं? क्यों मेरे साथ वह अपने पढ़ने लिखने की और-और तरह की बातें नहीं कर पाते? क्यों ऊपर के मन की और हल्की ही बातें मुझसे की जाती हैं? क्या मेरा उनके ऊपर कुछ ऐसा बस नहीं है कि मैं उन्हें फेर सकूं?'

और उनके यहां जो रहता है पहाड़ी नौकर, उसका हियाव होने लगा है कि वह श्यामकला का जरा रोब न माने। उसकी सुनी वह अनसुनी कर देता है। जब श्यामकला झल्लाती है तो वह हंसना चाहता है। जब गुस्से में श्यामकला कांपने लगती है तो वह बेहूदा आदमी उसके सामने मुंह बिराकर अपने रास्ते चलता चला जाता है।

श्यामकला उसकी खूब खबर लेगी।—एक तो कम्बख्त गुस्ताख हो गया है, उधर बालों में तेल डालकर जुल्फें भी काढ़ने लगा है! उसको कपड़े क्या बना दिये हैं कि जेण्टिलमैन बना डोलता है। उस पहाड़ी नौकर की सूरत देखकर उसे चिढ़ हो जाती है।

वह ज़ोर से चिल्लाई, "महादेवा ओ महादेवा!"

महादेव उस उन्नीस-बीस वर्ष के पहाड़ी छोकरे का नाम है।

"सुनता है कि बहरा हो गया है?"

सामने आकर मुसकराते हुए महादेव ने कहा, 'बहोजी, क्या होकुम है? हम तो आपके होकुम का ताबेदार हूं।'

बहूजी ने कहा 'नालायक सूअर, पाजी दूर हो मेरी आंखों से।'

महादेव ने हँसकर कहा 'बहोजी, खफा काहे होती हैं? हम हजूर का गुलाम हैं।'

'बदमाश, बालों में इतना तेल क्यों डाला?'

महादेव ने अपनी धोती का पल्ला उठाकर सिर पोंछ लेते हुए कहा, 'लो बहोजी। रिस मत होओ! अब कसूर नहीं होगा।' और कहकर वह फिर हँसा।

बहूजी ने कहा 'पाजी, हमसे हँसी करता है!'

महादेव ने कहा, "बिलकुल नहीं बहोजी!"

'हमारी धोती धोकर सोखा दिया?"

"सुखा दिया।"

बहूजी ने बेहद गुस्सा होकर कहा, 'कहां सोखाया?'

"आसमान पर सुखाया।"

यह कहकर नल के नीचे पत्थर पर पड़ी धोती को महादेव जाकर फींचने लगा। श्यामकला ने गरजकर कहा 'बदमाश!" और तैश में फुफकारती हुई अपने कमरे में चली गई।

महादेव धोती धोकर सुखा देता और कोठरी में जाकर कहता, "बहोजी सुखा दिया।"

श्यामकला गुस्से में कांपकर रह जाती।

महादेव बहूजी के पैर पकड़कर कहता 'बहोजी, खफा मत होओ।'

बहूजी पैर झिटककर कहती, 'निकल जा तू मेरे यहां से।'

—इस भांति बहूजी और नौकर दोनों परस्पर निकट आते-जाते थे।

श्यामकला इस उद्धत और जवाब देनेवाले नौकर से खीककर भी भीतर-ही भीतर गर्व का अनुभव करती है। इस नौकर के साथ वह मालिक है। इस नौकर को लेकर उसके अहंकार को तृप्ति मिलती है। वह तुष्ट होती है। आनन्द मिलता है। उसे कुछ अपनी सार्थकता अनुभव होती है। उसे लगता, इस नौकर के सामने होकर वह अपने अधिकार में भी कुछ है।

वह कृपाकांक्षिणी नहीं है, अनुग्रहदात्री भी है [illegible]

और जब मास्टर महामहिम घर पर आकर अपनी किताबें यथास्थान रखकर पत्नी के सामने पहुंचकर कहते हैं 'कामकला सी जो श्यामकला पुनि किधौं श्यामकला !" तब पत्नी चुपचाप अपने काम में ही रहती है, पति का प्रेम-सम्बोधन उसको बिना छुए हुए ही उसके ऊपर से निकलता चला जाता है।

पति कहते है, "मैं एक चीज तुम्हारे लिए लाया हूं, चलो देखती हो ?"

श्यामकला पूछ लेती है, "क्या है ?"

वह यह ऐसे पूछती है कि मानो नित्य की तरह पूछती हो, "क्या हाल है।" यह नहीं कि मास्टरजी इस फीकेपन को नहीं समझते आ रहे, लेकिन वे और भी आग्रहपूर्वक कहते हैं 'चलो देखो, क्या है।"

श्यामकला चुपचाप उठकर साथ चली जाती है और देखती है कि पति उसके लिए साड़ी का एक सूट लाये हैं। महामहिम पूछते हैं, "कैसा है, पसन्द आया ?"

श्यामकला कहती, "अच्छा है।"

मास्टरजी कहते, "वह जो धानी साड़ी है उस पर लगाना, खूब खिलेगा, और लो।'

एक दोने में मावे की गुझिया लेते आये थे सो दे दी।

श्यामकला को इस तरह की बात बहुत बुरी लगती है।

उसने कहा, "क्या तुमको यही लगता है कि मैं भूखी रहती हूंगी ?"

"नहीं, नहीं प्रिये, अब के मैं देश से कुछ सन्देश और रसगुल्ला मंगा भेजूंगा। यह पहाड़ी लड़का अच्छा खाना नहीं बनाता। मेरी कोई बात नहीं, मुझे सब चलता है। तुमको जिस बात की जरूरत हो, मुझसे कह देना। खाना तुमको ठीक लगता है ?"

"मुझे किसी चीज की जरूरत नहीं।"

महामहिम को यह सुनकर कुछ खुशी नहीं होती। वह चाहता है कि उससे जरूरतें खुलकर कही जाती रहें और वह उन्हें यथाशक्ति पूरा करता रहे। मानो इस भांति वह प्रमाणित करना और देखना चाहता है कि श्यामकला के प्रति उसका प्रेम पूर्ण है।

वास्तव में श्यामकला उनके जीवन के साथ मिलकर ऐसी स्वतः सिद्ध अंश हो गई है कि उसके अभाव पर कल्पना भी नहीं जाती। इससे उसके प्रति अपनी आकांक्षा का उन्हें अनुभव नहीं होता। जीवन में श्यामकला उनके लिए आकांक्षा है, प्रार्थनीय है, यह समझ देखने का उन पर अवसर नहीं आया। श्यामकला पदा से ही उनके निकट सुप्राप्त है, इससे उनके जीवन में वह है, यह भी बोध लगभग उन्हें नहीं होता।

एक रोज जब एकाएक कमर में दर्द हो आता है, तब उस कमर के अस्तित्व का हमें ठीक ठीक बोध होता है। साधारणतया हम जीते ही चलते हैं, बिना यह चिंता रखे कि कमर भी हमारे है। अन्त में एक दिन दर्द उठकर उस हमारी कमर को हमारे निकट ही प्रमाणित कर देता है।

मास्टर महामहिम स्कूल से आकर कोशिश करके पत्नी श्यामकला के साथ कुछ देर बहल लेते हैं, और फिर अपने दिन के क्रम को यथापूर्व चलाने लगते हैं। उनका अधिक काल स्कूली लड़कों में जाता है। जब घर में नौकर है और पत्नी वयस्का है, तब घर का कुछ भी अता-पता रखने की ओर से वह निश्चिन्त हैं। जो होता है, हो; वह वक्त पर स्कूल चले जायेंगे, रात होते न होते फिर किताबें लेकर बैठ जायेंगे, और सवेरे जो वक्त मिलेगा उसमें भी किताबें सामने लिए रहेंगे। और ये स्कूल के लड़के भी बेवक्त और हर वक्त बस्ता लिए मास्टर के पास आ पहुंचते हैं। जो वक्त मिलता भी है, उसे वे खा जाते हैं।

जिस प्रकार स्वस्थ व्यक्ति को अपने शरीर के अंगोपांग की साधारणतया खबर नहीं रहती, वैसे ही स्वस्थ प्रेम महामहिम को अपने गृहस्थ जीवन के किसी विशेष भाग को चिन्तापूर्वक अधिक आत्मदान करने की आवश्यकता की खबर नहीं थी।

इस प्रकार अतरौली कस्बे के मिडिल स्कूल में मास्टरी करते दस वर्ष होने को आये, तब सहसा एक दिन पढ़ाकर लौटने पर उन्होंने पाया कि घर सूना है, श्यामकला नहीं है। वह पहाड़ी नौकर भी नहीं है।

× × ×

उन दिनों बालकों की छमाही परीक्षा के दिन निकट आ रहे थे। बहुत से लड़के मास्टरजी से पढ़ने आया करते थे। उस दिन मास्टरजी ने

खाना न खाया था। याद ही नही आई थी कि खाना भी खाना है। अभी तक यह भी सुध उन्हें नही हुई थी कि खाना बनायेंगे, तब बनेगा। वह अपनी कोठरी में बैठे थे, वहा बैठे ही रहे। वक्त बीतता गया और दिन ढलने के बाद शाम आती गई। पर वह बैठे ही रहे। इतने मे बाहर से बालको की आवाज़ उनके कानो मे पडी, "मास्टरजी, मास्टरजी!"

मास्टरजी ने अनायास कहा, "आओ भाई," और वह लालटेन जलाने के लिए उठे।

बालक शोर मचाते हुए अन्दर आ धमके। बोले, "मास्टरजी, यह तो बडा अधेरा कर रखा है, लाइये बताइये, कहा है लालटेन जलायें।"

मास्टरजी ने कहा, "लालटेन! देखो चौका मे होगा।"

दो बालक उधर गये। औरो ने कहा, "मास्टरनीजी कहा गई हैं, मास्टरजी?"

मास्टरजी बोले, "आमरा नौकर का साथ अपना अम्मा के गया हय।"

बालको ने कहा, "वाह मास्टरजी, आपने हमको पहले से कुछ नही बताया। हम पहले आकर आपका सब काम कर देते।

मास्टरजी ने कहा, "हम सोचता था, हम काल बोलेगा। आमरा बहू बहोत खराब है। हमारा पीछा चला गया।"

बालको ने आपस मे सलाह की कि मास्टरजी को कोई तकलीफ नहीं होनी चाहिए। वे लोग तैयार हुए कि पानी न हो तो भरकर रख दें या और जरूरत हो तो कर डालें।

जब कहीं से भी दियासलाई लेकर और लालटेन ढूढकर उसे बालक जलाकर ले आये, तब मास्टर जी बोले, "आओ, आओ, अब तुम लोग सोबक पढो।"

एक ने पूछा, "मास्टरजी, मास्टरनीजी कब आयेंगी?"

मास्टरजी ने कहा, "कहने नही सकता तुम लोग परीक्षा में पास होना मागता हय। तो खूब मेहनत करना मागता हय। तुम लोगों का इम्तहान मे कितना दिन बाकी हय? दो हफ्ता से बेशी नहीं हय। तुम लोग सब अच्छा नम्बर से पास होना मांगता हय। आमरा बोहू चला गया हये। हाम अब तुम सबको बेशी वक्त दे सकता हय।"

एक लड़के ने कहा, 'मास्टरजी, कल मैं अपने घर से सवेरे शाम दोनों वक्त खाना लाऊँगा।'

मास्टरजी ने कहा, 'नहीं-नहीं, हम खुद बनाना मांगता हय।'

बालकों ने कहा, 'नहीं-नहीं मास्टरजी!' और वे अपनी-अपनी ओर से उन्हें निमंत्रण देने लगे।

मास्टरजी ने कहा, 'हमारा वाइफ वापिस लौटेगा तो बहोत गुस्सा होगा। बोलेगा—तुम यह क्या किया—अब तुम लोग लेसन पढ़ो लेसन।'

पढ़ाई होने लगी। पढ़ते-पढ़ते धीरे-धीरे लालटेन की रोशनी कम पड़ने लगी। मास्टर ने भी देखा और लड़कों ने भी देखा कि तेल कम है। एक लड़के ने कहा, 'लाओ, मैं तेल डलवा लाऊँ।'

एक दूसरे लड़के ने पूछा, 'मास्टरजी, घर में तेल है?'

मास्टरजी ने खिन्न मुद्रा में कहा, 'तेल?' और सहसा आगे वे कुछ न कह सके।

पहले लड़के ने चुपचाप लालटेन ली और तेल डलवाने के लिए बाजार चल पड़ा।

कोठरी में अंधेरा हो गया। लड़के हँसने और दंगा करने लगे। मास्टर उस अंधेरे में खोया बैठा रहा। उसने अब देखा कि क्या अंधेरा अब उसके लिए बाहर है और भीतर है। लड़कों ने कहा, 'मास्टरानीजी को जल्दी बुलवाइए।'

मास्टर ने सुन लिया और पी गया।

एक और ने कहा, 'मास्टरनीजी को दीवाली पर जरूर बुलवा लीजिए। आज अंधेरा है, उस रोज हम खूब रोशनी करेंगे।'

मास्टर ने सुन लिया और चुप रहा।

उस लड़के ने कहा, 'मास्टरजी सुनते नहीं हैं? दीवाली पर उन्हें जरूर बुलवा लीजियेगा।'

मास्टर ने धीमे से कहा, 'अच्छा।'

एक बालक ने कहा, 'मास्टरजी, अंधेरा तो बड़ा खराब लगता है। डर लगता है, आपको डर नहीं लगता है?'

मास्टर ने कहा, "ओ तुम लोग लेसन की बात नहीं करता हय। क्या

एधर-ओधर की बात करता हय।"

इतनी देर म लालटेन आ गई। पढाई शुरू हुई। लेकिन मास्टर का जी इस घरमे बैठकर दबा सा ही आता है। उसने कहा, "देखो लरको तुम इहा स रात को अपना घर दूर-दूर जायगा। यह ठीक नही हय। हम काल से तुमरा ही किसीका घर पढाने आयेगा। बालो, किसका घर ठीक बालता हय ? '

अत मे एक ालक का घर निश्चित हुआ और मास्टर ने कहा, 'अच्छा, अब तुम लोग जान सकता हय। हम काल से खुद पढाने आयगा।"

बालक छुट्टी पाकर अप्रसन्न न हुए और उन्होने फिर आग्रह करना शुरू किया कि मास्टरजी को जल्दी बुला लें, दीवाली पर तो जरूर बुला लें। मास्टरजी ने कहा, "अच्छा, अच्छा'। और हँसते-खेलते बालक विदा हुए।

उसके बाद मास्टर ने उठकर अपना तमाम घर देखा। यह देखने के लिए नही कि पत्नी क साथ क्या-क्या और सामान चला गया है। देखने के लिए यह कि कही किसी कोने मे रूठकर छिपी हुई वह पडी ही तो नही है। उसकी एक धोती सूख रही थी जिसको उन्होने चुनकर उसी खूटी पर वैसे ही टाग दिया जैस वह और दिना टगी रहती थी। दोनो खाटो को वैसे ही बिछा दिया जैस और दिना बिछा करती थी और जब कुछ शेष न रहा तब बचारा मास्टर अपनी खाट पर आ रहा कि सोय।

× × ×

घर को उस हालत मे रखकर कि जो यहा स चली गई है वह जब आय तो पाये, उसकी धरोहर ज्यो की त्यो है, महामहिम वहा से अधिकतर अनुपस्थित हो जाना और लडका मे ही अपने को भूलता रहता। घर की स्वामिनी आ जाय तो घर को अपनी बाट जोहता ही पाय, इस भाति उस घर को वह प्रस्तुत और सवारे रखता। सुबह और रात, और जब भी अवकाश हो वह बालको मे पहुच जाता।

बालक एक रात पढ रह थे। सात बजे से पढ रह थे, अब नौ होगा। उन्हे नीद-सी आ रही है। महामहिम पढा रहे हैं—

"अच्छा नींद आता हय ? तो सोओ। हाम चला जाता हय भूगोल। देखो धरती गोल है नारंगी का माफिक। ओह, तुम लोग सोओ, हम चला जा रहा हय।'

कहकर मास्टर दरवाजे की तरफ को बढते। कहते, 'देखो, इस सूबा में कौन-कौन दरया है। गंगा जमुना घाघरा, चम्बल, केन। हिस्ट्री में—' कहते कहते कमरे में फिर मास्टर वापिस लौट पड़ते।

—हिस्ट्री में आर्य जाति का विजय और उनका शोभता खूब याद करना चाहिए। कौन कौन लोग ने भारतवर्ष पर चढाई किया ? आह तुम लोग सोओ हाम चला जाता हय।

फिर दरवाजे की तरफ बढ़ते और अंग्रेजी अथवा गणित या भूगोल-इतिहास की कोई बहुत जरूरी बात बतलाते बतलाते फिर लौट पड़ते।

वास्तव में उनका अभ्यन्तर उस अपने मकान में इस रात्रि के अंधेरे में अपने को अकेला पाने से बचता था। इन बालकों को परीक्षा में उत्तीर्ण कराने के प्रति उनकी चिंता भी कम नहीं थी।

इसी भांति दिन बीतते जाते रहे। दीवाली ज्यों ज्यों पास आती थी, लड़कों का आग्रह बढ़ता जाता था कि मास्टरनीजी को अवश्य बुलवा लेना चाहिए। मास्टरजी लड़कों के साथ पहले अनायास ही वचन चुके थे जब उन्होंने एक बार कहा था हां-हां।' उसके बाद उन्होंने लड़कों को यह भी कहा था कि उन्होंने अपने श्वसुरालय चिट्ठी डाल दी है। लड़के रोज पूछते थे मास्टरजी, मास्टरनीजी का ज्वाब आया ?

मास्टरजी कहते 'हां, ओहो अब ठीक है। लेकिन आने का बाबत कुछ नेई लिखा।

"मास्टरजी दीवाली के रोज लक्ष्मी-पूजन होता है। मास्टरनीजी को लिखिये कि पन्ना, चुन्नी और रामसिंह उन्हें बहुत पसन्द करते हैं —'

और मैं।

और मैं।

शेष लड़कों ने भी शोर मचाया—

'मास्टरजी ने कहा 'अच्छा, अच्छा।"

लड़कों ने कहा 'और सबका पालागन लिखियेगा।

"अच्छा, अच्छा।"

इस भांति एक राज बालकों को उन्हें कहना ही पड़ गया कि मास्टरजीजी ने तुम सबको अपना बहुतप्रेम भेजा है और लिखा है दीवाली को आने की कोशिश करेंगी।

दीवाली के पहले दिनों बालकों के उत्साह पर महामहिम का दिल बैठता जाता था। बालक पूछते, "मास्टरजी कब आयेंगी ?" मास्टरजी कभी कहते, "हां" कभी कहते "नहीं," अधिकतर कहते, "कहने नहीं सकता।"

बालकों ने मास्टरजी का घर झाड़-बुहारकर खूब साफ कर दिया। मास्टरजी ने कहा था कि दीवाली को वह न आई तो वह खुद उनको लेने जायेंगे। बालकों ने पूछा था, "फिर मास्टरजी आप कब लौटेंगे ?" इसके उत्तर में मास्टरजी ने कहा था, "अमरा बोहू बड़ा घर का है। छोटा शहर को पसंद नई करता। हाम गया तो वापिस नहीं फिरगा। कोलिकाता शहर में रहेगा। ओहां आमरा बोहू का मर्जी चला लगेगा।"

इसलिए लड़के दत्तचित्त होकर मास्टरजी के घर को खूब साफ करने में लगे हैं कि मास्टरनीजी न आती हों, तो भी आ जायं।

दीवाली का दिन आ गया है। वह दिन आकर अब बीता भी जा रहा है। शाम हो चली, अब रात होगी और लोग रोशनी करेंगे। दीपकों की पंक्तियों पर पंक्तियां जलाकर आज वे द्योतित धरा में लक्ष्मी का आवाहन करेंगे। दीपकावलियां अमावस्या को ध्वंस करती हुई घर-घर नगर-नगर ज्योतिष्क होंगी, ताश मिलेंगे। बच्चे खेलेंगे। मिठाइयां बटेंगी। मंगल मोद होगा। ऋतु बदलेगी। हलाम खिलेगा।

लड़कों ने प्रबंध किया है कि यह सब कुछ मास्टरजी के घर होगा। चुग्गे आ गये हैं। बत्तियां बट डाली गयी हैं। तेल तयार है। हिसाब हो गया है कि कहां-कहां और कैसे-कैसे कितने रखे जायेंगे। सब काम लड़के कर रहे हैं और मास्टरजी से अनुमति लेते जाते हैं। एक लड़का आता है। कहता है "परली कोठरी में आलों में दो दो दिये रखे जायेंगे न, क्यों मास्टरजी ?"

मास्टरजी कहते हैं, "हां हां।"

दूसरा आकर कहता है 'नही मास्टरजी! चार-चार रखे जायेंगे। ठीक है?"

मास्टरजी कहते हैं हां हां।"

लडको के उत्साह मे मास्टरजी भी उत्साह ले रहे हैं। कोई पूछता है—

"अभी तक तो वह आई नही, मास्टरजी, अब कल आयेंगी, कल बडी दीवाली है। है न?'

मास्टरजी उस बालक के प्रति देखकर कहते हैं 'हा-हा।'

बालक औरो की तरफ देखकर कहता 'देख लो मैं कहता था न, कल बडी दीवाली है, सो कल आयेंगी। देख लो, मास्टरजी भी कह रहे हैं कि कल आयेंगी। सब बालक मास्टरजी की ओर देखकर कहते क्यो मास्टरजी?

मास्टरजी अत्यन्त आशामय बनते हुए कहते 'होने शकता हय।'

जगह जगह कोने कोने मे दिये जलाये गये। अपने थाडे थाडे स्नेह को पतली-पतली बटी रुई की बत्तियो के सहारे जलाकर वे दीपक अपने चारो ओर प्रकाश फैलाय हर तरफ बिछ गये। महामहिम ने पाया कि वह स्वय भी उन दियो को बालको के हाथ म देखकर अथवा उनके हाथो मे से लेकर जगह-जगह प्रस्थापित कर रहा है। घर म आलोक ही-आलोक हो गया है। अधेरा सिमटकर भी कही बैठ सके, इतना भी अवकाश उसे नही है। पर मानो वह सबका सब एकत्रित, घना होकर काला-काला उसके भीतर घुसकर बैठ गया है।

बालको ने कहा, मास्टरजी कैसा अच्छा लगता है?'

मास्टर ने कहा, 'बहोत आच्छा हय!

बालको ने कहा मास्टरजी, आपके यहा लक्ष्मीजी की तसवीर है? उनके नीचे एक घी का दिया जलना चाहिए।

मास्टरजी ने कहा आमरा पास नेईं हय।

कोई भी तसवीर नही है?

विवाह का बाद का हम दोना का एकठो फोटोग्राफ हय।"

बालको ने उसीको लिया, उसे एक ऊँची जगह स्थापित किया, उसे

माला पहनायी और उनके चरणा मे एक रुपयो और घी से भरा हुआ एक बडा दिया जलाकर रख दिया। फिर वे लोग जाने के लिए आना मागने मास्टरजी के पास आये और बोले, "मास्टरजी, हम लोग अब जाते हैं।"

मास्टरजी गदगद हो आये। और उन्होने बस इतना कहा, "अच्छा।"

बालको ने पूछा, "मास्टरजी, कल बडी दीवाली को तो मास्टरनीजी आ जायेंगी न ?"

मास्टरजी ने कहा "हान सकता हय।"

बालक चले गये। तब महामहिम ने एक गहरा श्वास छोडा। वह उस कमरे मे आये जिसमे माला-चर्चित उनका चित्र रखा था। उसके चरणो मे घी का दीपक आलोकित था। उनने देखा वह धानी चुनरी उसी भांति खूटी पर टगी है। दूसरी खाट उसी भांति बिछी है। उसका मन तो दोषारोपण करने कही भी जाना नही है। वह तो यही देखता है कि वह शय्या अप्रयुक्त ही रहती है। यह धोती अनावश्यक रूप से खूटी से टगी ही रहती है। वह खाट पर आकर एकस्थ एकटक देखता हुआ बठा रह गया। मद्धम ज्योति से बुझ-बुझकर जलने लगे दीपक को वह देखा किया। एक-एककर व सब बुझते चले गये। अकम्पित हृदय आग स्नेह के साथ जलता हुआ वह दिया ही उस कमरे को प्रकाशित किये रहा जो उस विवाहित दम्पति के चरणों मे लौ लगाये, उन्मुख बैठा था। महामहिम बहुत देर तक इसी भाति बैठा रहा। आज उसने घर के किवाड भी बन्द नही किये, खुले ही रहने दिये। धीरे धीरे उसकी आखो पर पलकें गिर सी चली। उसी समय उसे मालूम हुआ जैसे कोई घर मे आया है। लेकिन नही, कोई भी नही आया। वह पूरी तरह आख खोलकर बैठ गया। बाहर दिये बुझ चुके थे और निविड अमारात्रि फैली थी। शनै शनै नीद से उसकी आखें झपन लगी। किन्तु वह चाहता है, जागे ही जागे आज इस रात को उस रात से मिला दे। वह सहमा उठा। उसने देखा—कमरे मे आलोक फैलाता हुआ वह दिया मद्धम हो गया है। उसने सुना है लक्ष्मी दो तिथियो के सन्धि क्षण मे ठीक रात्रि के मध्य मुहूर्त मे आती है। वह आयें तो घर को प्रकाशित प्रतीक्षा मे हो पायें। उसने बढ़कर दिये की बत्ती

उद्योत उज्ज्वलतर हुआ। वह खाट पर आ गया। और हौले हौले सपने फिर पलकों पर उतरने लगे। शनै शनै वह शय्या पर लेट गया।

बाहर दालान म अंधकार म भी सिमटती हुई जो नारी बैठी थी उसको अब शनै शनै ढाढस बंधा। नहीं तो उसका डर जाता ही न था। चारों ओर का प्रकाश, उसे मानो डसने आता था। गड़कर लुप्त हो जाने के लिए वह अपने तई रही काली जगह न पाती थी। ड्योढ़ी के बाहर जिस किसी तरह वह तमिस्रा के परदे म जीती रही। प्रकाश म पड़ती तो, हाय राम क्या होता ? अब उस कमरे के भीतर जिसमें महामहिमामय महिम है जाने का साहस उसे न होता था। क्योंकि यद्यपि महिम सोता है, पर दीपक जागृत है। उसका प्रकाश मानो उसे लील जायगा। भीतर की ग्लानि म मानो प्रकाश की एक भी किरण पाकर उसका जी फटे बिना क्या बचेगा। वह नारी दबे पांव कमरे म आकर दीपक की ओर बढ़ी कि उसे बुझा दे और फिर अंधेरे म इन सोते हुए महामहिम के पांव पकड़कर निशीथ को चीरती हुई चीख उठे नाथ !'

किन्तु दीपक को फूंक से बुझाये ही कि उसने देखा दीपक तो उन्हीं दाता के चरणों के निकट लौ बांधे बैठा है। यह देखकर उसने अपनी छाती मसोस ली। कुछ देर स्तब्ध, उसी चित्र के आगे वह खड़ी रही और फिर हृदय कठोर करके वह सोते हुए व्यक्ति की ओर बढ़ गयी। सावधानतापूर्वक महामहिम के पैर उसने पकड़े और फिर उन चरण-तलों म जार जार स वह अपना माथा ठोकने लगी !

जाने महामहिम क्या स्वप्न देख रहा था। वह एक साथ उठा। बोला, "एग्नैटेन मा लक्ष्मी, आगुन।'

नारी न उसके चरणों को और भी जोर स पकड़ लिया और फूट-फूटकर रो उठी।

महामहिम न दोनों हाथों में उठाकर उसे शय्या पर बिठाया। कहा "कबरी जन्मन एग्नैटेन, तब फिरे जैते पारिबन ना। आनो निर्विये दिच्छी, केमन करे जावेन ?' कहकर दीपक बुझा दिया—

× × ×

अगले दिन अंधेरे ही दुकान खुलवाकर महामहिम बहुत-सी मिठाई

लाया। उसे घर मे रखकर एक बालक के घर जाकर कहने लगा, "ओरे चुनी, ओभी शोता हय। आमरा बोहू तुमरा वास्ते खूब-सा मिठाई लाया हय।"

फिर दूसरे बालक के घर जाकर कहा "पोना। पोना। शुनो, आमरा बाहू तुमरा वास्ते मिठाई लाया हय।"

फिर तीसरे के यहा, फिर चौथे के यहा

बालक लोग मिले, आपस मे कहने लगे, देखो, हम कहते थे न, बडी दिवाली को मास्टरनीजी आयेंगी ?"

सब लोग मास्टरजी के घर पहुचे। मास्टरजी को नमस्कार किया। देखा, मास्टरनीजी तो बहुत दुबली हो गई है। वे लोग बोले, 'मास्टरनीजी आपने अपनी बीमारी की कोई खबर भी नही दी और आप तो बिल्कुल अचानक आ गई है। पहले मे खबर भी नही करी।"

मास्टरजी जब बालको मे बर्फी और पेडे बाटने लगे तब खूब खुश होकर खाते हुए बालको ने कहा, 'मास्टरनीजी, आप अपनी देशवाली मिठाई क्या नही लाई ? वह रसगुल्ला और दूसरी क्या चीज होती है, हा, सन्देश ?"

मास्टरजी ने झटपट कहा "तोमरा देश का चीज लाया हय। कौलिकाता मे सब रोकम का चीज मिलता हय। रोशगुल्ला तुम लोग को अच्छा लगेगा ? अबकी बार जाना होगा तब खूब सा रोशगुल्ला लायगा।'

मास्टरनीजी इस बातचीत म जाने कैसे अपने आसू रोक रही।

घुंघरू

दीनानाथ ने अभी कल अनमनेपन से फोन पर उर्मिला को आश्वासन दिया कि अच्छा अमुक समय आऊंगा ?

उर्मिला दूर से आई है। होटल में ठहरी है। कहती है "अकेली हूं और संकट में हूं। दीनानाथ नहीं जानता कि इस संकट से उसका क्या मतलब है। अन्त में वचन का समय आधे घण्टे बीत जाने पर अपनी गाड़ी लेकर वह होटल पहुंचा।

पीछे की ओर से उसने द्वार खटखटाया। उसे हैरानी हुई कि अन्दर से कोई उत्तर क्यों नहीं आ रहा है। आखिर मुंह घुमाकर दरवाजे को अन्दर धकेला तो वह खुल गया। भीतर कमरे में काफी अंधेरा उसे मालूम हुआ। एकाएक कुछ न पहचान पड़ा। अन्त में दीखा कि उर्मिला एक ओर पलंग पर सोई पड़ी है।

अजब साज है। पांवों में सैण्डल हैं एक पैर पाटी से उधर लटका हुआ है दूसरा बिस्तर पर। पोशाक चुस्त है, खाली कन्धों पर से कमर तक आरम्भ यहां लपट आ गई है और ।

सब देखकर मुस्कराता हुआ वह एक तरफ कौच पर बैठ गया है। एक मिनट, दो मिनट, तीन मिनट। अन्त में उठकर कन्धे पर से उसे छूते और हिलाते हुए कहा 'उर्मिला ! उर्मिला !'

उर्मिला उठी। उसने अंगड़ाई ली, आंखें मिचीं, मुस्कराई, बोली 'ओह, आपकी राह तकते मुझे नींद आ गई।'

दीनानाथ ने कहा, 'यह क्या वेश है ?'

उर्मिला बोली 'कुछ नहीं, मैं नाच रही थी। अभी आई।' कहते-कहते एक झटके से बालों के जूड़े को बिखेर वह उसके सामने से बराबर लगे कमरे में चली गई।

दीनानाथ ने हँसना चाहा, पर वह हँस न सका। उसके माथे पर बल पड़ आये। उसे बुरा मालूम हुआ, जैसे उर्मिला की चुस्त, चिकनी पोशाक उसे चुनौती हो। वह कामिंदा आदमी है, बड़ा दफ्तर है, कई कम्पनियां हैं। कभी पहले कवि था, अब व्यवसायी है। इस तरह की घड़ियां उसे नाहक मालूम होती हैं।

थोड़ी देर में बराबर के कमरे से निकलकर उर्मिला उसके पास आकर बैठती हुई बोली, "ओह! इतनी देर आपको कैसे लगी?"

दीनानाथ ने देखा कि सज्जा अब कुछ और सँभल गई है। उसने कहा, "कहो क्या काम है?"

"क्यों, जाने की जल्दी है?"

"जानती तो हो काम धाम में फुरसत कम ही मिलती है।"

"नहीं, मैं नहीं जानती काम-धाम काम धाम! इतने अपने से आप क्या नाराज हैं?"

दीनानाथ ने अपनी अप्रसन्नता को रोककर हठात् मुस्कराते हुए कहा, "अपनी बात कहो।"

उर्मिला ने कोई बात नहीं कही। वह अपनी जगह खड़ी हो आई, पास पड़ी गोल मेज के गिर्द होती हुई सामने आकर बोली, "कहती हूं, बात—बात यह है कि मैं बहुत खुश हूं, क्योंकि आजाद हूं, इससे नाचने की तबीयत होती है, बोलो, नाचूं? देखोगे?"

दीनानाथ ने कहा, "क्या इसी के लिए बुलाया था?"

"कोई देखने को न हो तो क्या नाचना बेकार नहीं है?"

"अच्छा, चलो मैं बैठा हूं।"

"अहं क्या चलूं, घुंघरू तो है नहीं।"—

"तो छोड़ो, सीधे बैठकर अपनी बात कहो, लेकिन जल्दी!"

"नहीं करती जल्दी और नहीं बैठती", कहकर उर्मिला अजब ढंग से देखती, दीवार की ओर एक-एक कदम पीछे हटती गई और कमरे के उस किनारे पर पहुंचकर हाथों से उसने बांसुरी बनाई और मुंह से लगाकर लीला के कृष्ण की मुद्रा में खड़ी हो गई। देखते-देखते एकाएक फिरकी लेकर नाच उठी, कभी कृष्ण और कभी राधा बनकर इस प्रकार वह

रास के अभिनय में फिरकी लगाती रही।

मिनट-पर मिनट होते गये। दीनानाथ चित्र लिखा-सा सब देखता रहा। नाना भंगिमाओं में ढुलती-मुड़ती वह नारी उसके मोह और रोष का कारण बन रही थी। वह उसके रूप में न अटककर उसके सत्य को पहचानना चाहता था, पर रह रहकर वह रूप ही सत्य बनकर उसपर छाया जा रहा था।

देखते-देखते अकस्मात् दीनानाथ के मुंह से निकला, "वाह!"

सुनते ही उर्मिला शरमाकर एकदम रुक गई। लाज से लाल पड़कर रुकती हुई बोली 'नहीं-नहीं, घुंघरू तो हैं नहीं।"—अनन्तर वह अपने स्थान पर ठहरी न रह सकी भागी हुई आई और मुंह को हाथों में छिपा कर सोफे पर औंधी पड़ गई।

दीनानाथ कुछ क्षण न समझ सका। अन्त में उसने कहा, "उर्मिला! उर्मिला!"

देखा उसके सम्बोधन पर उर्मिला और सिसकने लगी है।

दीनानाथ ने सिर ऊपर नहीं उठाया, उसकी सिसकी जारी रही। दीनानाथ में अपने से रोष चढ़ आया। अपनी जगह से वह डिगना नहीं चाहता था। कठोर भाव से उसने कहा, उर्मिला, सीधे बैठो, बात कहो जो कहनी है।'

उसी तरह मुंह छिपाये सुबकती पड़ी उर्मिला ने कहा, 'आपके काम में देर होगी, आप जा सकते हैं।"

छोड़ो बात कहो अगर कहनी है।'

कुछ नहीं कहनी।'

दीनानाथ नट आया। कहा उर्मिला, नखरे न करो, कहना है कुछ तो सीधे कहो नहीं तो तमाशे के लिए मैं नहीं हूं, मुझे जाना है।"

'जाइये।

"जाइये' सुनकर दीनानाथ चला नहीं गया। वह पास आया, अपने दोनों हाथों से उर्मिला का सिर उठाया और उसे अपने घुटने पर टिका कर झुककर कनपटियों पर हौले-हौले थपकाते हुए कहा, 'छी', जी हारते हैं। मैं तो तुम्हें बहादुर समझता था।"

उर्मिला अपने आसुओ के बीच भी मुस्कराई और धीमे से बोली, "बहादुर !"

दीनानाथ अब उसे सीधा बैठे छोडकर अपनी जगह आ गया था। उसने कहा, "हा, तुम बहादुर हो, उर्मिला ! और हारोगी नही। क्यो क्या है ?"

"उन्होने निकाल दिया।"

'क्या मतलब ? निकाल दिया ? अपने हाथ से घर से बाहर कर दिया ? नही, ऐसा तो वह नही है।"

"जी, ऐसे वह नही हैं।" उर्मिला के अतिशय तिक्त स्वर से दीनानाथ को धक्का लगा। उसने कहा, 'ठीक बताओ, हुआ क्या ?'

"कहती तो हू। उन्होने निकाल दिया। बताइये अब मेरा क्या होगा ? क्या आप कुछ बन्दोबस्त कर सकते हैं ?"

"कर यह सकता हू कि उसे बुलाकर देखू, तुम लोगो म कोई बन-बनाव हो सकता है कि नही !"

"आप कुछ नही कर सकते ?"

दीनानाथ ने कहा, "मैं ?"

"मेरा कोई कही कुछ भी बन्दोबस्त नही कर सकते ?"

दीनानाथ ने फिर वही विस्मय से कहा, "मैं ?"

"जाइए, आप कुछ नही कर सकते। सुनिये, मैं आपके छह सौ रुपये जल्दी ही लौटा दूगी।"

दीनानाथ ने जोर से डाटकर कहा, "कैसे छह सौ रुपये ? पागल तो नही हो गई ?"

उर्मिला ने कहा, "देखिये, मैं आपसे कहती हू, उन्हें आगे कभी रकम मत दीजियेगा।"

दीनानाथ ने शासन के स्वर मे कहा, "उर्मिला !"

उर्मिला बोली, "आप जानते नही, वह इसी तरह डूब रहे हैं। आप उनको और मुझको उबारना चाहते हैं तो पैसा कभी उनके हाथ मे न दीजियेगा।"

दीनानाथ ने अत्यन्त क्रुद्ध भाव से कहा, "उर्मिला ! तुम्हारा दिमाग

खराब हो गया है। होश में बात करो। उसका सब कुछ तुम्हारे लिए है। दिवालिया बना लिया है या बनेगा तो तुम्हारी खातिर। फिर उस पर दोष रखते तुम्हें शर्म नहीं आती ?'

शर्म !'

' कहकर उर्मिला खिलखिलाकर हँस पड़ी। अन्त में बोली, "आप मुझे बेच नहीं सकते ? खुद खरीद नहीं सकते हैं ? क्या यह शर्म की बात है ? बोलिये मैं गाऊ ? नाचूं ? नाईट ? कलामिश ? कहिये, देखोगे ?"

दीनानाथ ने घृणा से भरकर कहा स्वांग न करो और बताओ तुम्हारे पास इस समय कितना रुपया है ?'

उर्मिला उस पर बड़ी खुश होकर अपनी जगह से उठी और बक्स में से पर्स निकालकर दीनानाथ की गोद में डाल दिया, और कहा, 'सब इसमें है।'

दीनानाथ ने सब नोट निकालकर गिने, कुल साढ़े सात सौ रुपया था। पूछा सब कहां से लाई हो ?

अजब ढंग से उर्मिला मुस्कराकर बोली 'नहीं, कमाया है।"

'बनो नहीं, ठीक बोलो कितना रुपया उसने दिया था ?'

क्या मैं कमा नहीं सकती ? आपको कुछ भी मालूम नहीं है, हुजूर साहब ! मैं रुपया के ढेर लगा सकती हूं। मैं मैं लेकिन छोड़िये, मैं पतिव्रता नारी हूं। मैं मां हूं। मैं गृहिणी हूं। मैं रोटी बनाती हूं, सफाई करती हूं, बरतन घिसती हूं, कपड़े धोती हूं, पति की पद रज लेती हूं, पर मैं मीरा नहीं हूं, पतिव्रता हूं।

उर्मिला की बहक देखकर दीनानाथ ने डांटकर कहा, "सुनती हो, मैं क्या पूछ रहा ? कितने रुपये उसने दिये थे ? '

'क्या आप चाहते हैं मैं हँसूं नहीं ? नाचूं नहीं ?"

'सब नाच हंसी रुपये से है। पूछता हूं वह बताओ। कितने रुपये उसने दिये थे ?"

सहसा गम्भीर बनकर उर्मिला बोली, 'चौदह सौ।

"कहां से आये थे ?'

"मालूम नहीं।'

'अनुमान भी नही ?"

"है, आपसे लिए गये थे।"

दीनानाथ ने जोर से कहा, 'तो तुम कुछ नही जानती ?"

"सौ सौ के पद्रह नोट थे। मुझे देकर उन्होने कहा, यह तुम्हारे हैं। इनमे से चाहो तो एक मुझे दे सकती हो। मने एक नोट उन्हें दे दिया। उसके दूसरे रोज नौ सौ रुपया म साथ लेकर यहा चली आई हू। छह सौ आपके हम पर पहले चाहिए। क्या यह नौ सौ और आप उन्ह भेज सकते हैं! म उनके एहसान म नही रहूगी।"

दीनानाथ यह सब सुनता हुआ बैठा रहा। अन्त मे उसने कहा, "सुनो उर्मिला! यह झूठ है कि मेरा कोई रुपया तुम लोगो पर आता है। म वह रोग नही पालता। सहायता या उपकार मे म विश्वास नही करता। रुपये का देना मने नही सीखा। पति का एहसान छुडाने के लिए रुपया मुझसे लोगी, क्यो ?"

"हा, हा, क्या म इस लायक नही हू ? क्या आप प्रेम—"

दीनानाथ हँसा। बोला, "इमीन एक पैसा तुम्हारे लिए खच नही कर सकता। प्रेम कौन करता है ? मै ? देखती तो हो मैं लखपति हू, करोड-पति होने की तरफ बढ रहा हू। ऐसा आदमी प्रेम खरीद सकता है, उसे प्रेम करने की जरूरत नही होती। इस तरह मैं प्रेम से सदा के लिए मुक्त हू। मेरी यह सारी व्यावसायिक सफलता, मेरा कितना बडा दुर्भाग्य है, यह तो मैं ही जानता हू। इसलिए मुझसे ऐसी बात न करना।"

देखते-देखते उर्मिला अपनी जगह से उठ आई और दीनानाथ के पावो तले बैठकर उनके घुटनो मे अपना मुह छिपाते हुए बोली, "मुझे माफ करो।"

दीनानाथ ने शासन के स्वर मे कहा, "उर्मिला, अलग बैठो।'

सुनकर और जोर से उसने उन घुटनो को अपने आलिगन मे कस लिया और सिर गाडकर वही सिसक उठी।

दीनानाथ अपनी जगह कुछ देर बधा बैठा रहा। जी हुआ कि इस अपदार्थ मायाविनी नारी को अपने पैर से झटककर दूर कर दे। जी हुआ कि उसे मस्तक पर धीमे धीमे थपककर कहे—'नहीं! नहीं! रो नहीं, रोते

नहीं।' मैं नहीं जानता था कि वह क्या चाहती है। इस नारी का पति उसका अत्यन्त स्नेहभाजन है। कुछ नहीं है जो वह इस अपनी पत्नी के लिए नहीं कर सकता। पर यह है कि उससे स्नेह नहीं चाहती, अपमान चाहती है। पति का प्रेम ही इस अपने और उसके विरुद्ध डालता है। क्यों? क्योंकि एक दीनानाथ है जो लखपति भी है। दीनानाथ ने यह सोचा और एक कठिन और क्लिष्ट भाव से वह भर आया। उसने कहा, "उर्मिला, तमाशा न करो अलग बैठो।'

सुनकर, नहीं वह अलग नहीं बैठी।

दीनानाथ ने खीजकर तैश के साथ कहा "सुनती नहीं हो? फिर मुझे दोष न देना।"

अब उर्मिला ने उन घुटनों से अपना मुंह ऊपर उठाया।

दीनानाथ ने देखा कि बाल उसके बिखर आये हैं। माथा बहुत कुछ ढक गया है आंखों मे याचना है। वे आंखें आंसुओं से अभी धुल कर चुकी हैं और भीगी है। मुंह ऊपर होकर जैसे स्वीकृति की प्रतीक्षा बना टिका है। चिबुक के नीचे की गर्दन बेहद सफेद है। वक्ष का उभार सर्वथा आवृत नहीं है।

देखकर दीनानाथ अकारण आवेश से भर आया। उसके घुटनों की जकड़ बनी एक व मूल तक खुली हुई, उस भरी और गोरी बांह को मुट्ठी में पकड़कर जोर से अलग खींचते हुए कहा, ' चल हट, दूर होती है कि नहीं मायाविनी?

उर्मिला इस बार आसानी से दूर हो गयी। माथे के ऊपर आये हुए बालों में नीचे उसकी भौंहों पर कोई वक्र नहीं। कोई अप्रसन्नता वहां नहीं दीखी उल्टे वह चेहरा तृप्ति व सन्तोष से मुस्करा आया।

दीनानाथ अपने से झगड़ता हुआ उठा और बोला, "मुझे अब जाना होगा। देर काफी हो गयी है।'

उर्मिला ने सहमत होकर कहा "अच्छी बात है।" और कहते ही दीनानाथ को बढ़ता हुआ देख दौड़ी हुई वह दरवाजे पर पहुंच गयी। झट से उसे बन्द कर, अपनी पीठ से रास्ता रोक दीनानाथ के सामने के लिए वह खड़ी हो गयी। उसका उठता गिरता वक्ष, हांफती सांस और शरारत से

हँसता हुआ मुह देखता हुआ दीनानाथ क्षण भर ठिठका रह गया। फिर तेजी से लौटकर वह पीछे वाले दरवाजे की ओर बढा। पलक मारते मे उर्मिला उससे पहले ही उस द्वार पर जा पहुची और चटखनी को अपने शरीर स रोकते हुए उसी प्रकार दीनानाथ के सम्मुख जम गयी। यह कमरा अधेरा था। दीनानाथ को सही-सही कुछ दीख न पाता था, बस उर्मिला की आखें साफ झलक रही थी और लिपिस्टिक मे रगे ओठो को लेकर उसका मुह ऊपर उठा दीखता था।

दीनानाथ न कहा, "उर्मिला जाने दो।"

"जाओ न।"

'हटो सामने से।"

"नही हटती, जिसे जाना हो जाय।"

दीनानाथ अवश हो आया। उसने कहा, "तुम मुझे देवता न समझो, उर्मिला! न निमम। मैं कमजोर आदमी हू। आखिर तुम मुझसे क्या चाहती हो?"

उसने पाया कि उत्तर मे दो बाहे बढकर उसके गले मे पड गयी हैं। उसकी सास तजी से चलने लगी। उसने अपन साथ जल्दी मचाकर कहा, 'तो चाहती हो अभी न जाऊ? तो नही जाता।"

कहकर उन बाहो मे से अपने को छुडाकर जल्दी मे चलता हुआ वह पहले वाले कमरे म आ गया। जल्दी जल्दी उसके दरवाजे खोले, खिडकिया भी खोली और फिर उसी अपने कौच म आन बैठा।

बैठे-बैठे उसने कमरे को चारा तरफ से देखा, अन्त म उसकी निगाह सामने मेज पर रखे कृष्णजी के उस चित्र पर जा टिकी जिसके आगे फूल पड़े थे।

चार, पाच, सात मिनट तक कोई उस कमरे मे नही आया। अनतर उर्मिला बराबर के कमरे से वहा आई तो बदली हुई थी। मेकअप बिलकुल नही रह गया था, पोशाक मे सादी साडी ही थी। माथे पर चन्दन की बिंदी, पावो मे चप्पल और बाल एक सीधे जूडे मे बधे थे।

दीनानाथ ने कहा, "आओ, देखो, कैसी भली लगती हो।" उर्मिला गम्भीर भाव से हँसती हुई आकर सोफे पर बैठती हुई बोली, "तो

आपको भी छल सकती हूँ। क्योंकि यह तो मुझे मानते हो अच्छा है। आपको क्या बुरे होने में विश्वास नहीं हो सकता है?"

दीनानाथ ने कहा "तुम जानती हो कि मुझे यह विश्वास नहीं है? मैं तुमसे डरता हूँ। स्त्री शैतान होती है। तुम तो और भी।"

उर्मिला खिलखिलाकर हँसी। बोली "मेरे पतिदेव को आप पर शैतान होने का विश्वास करा दें तो मैं आपकी बड़ी कृतज्ञ हूँगी। वह मुझे इतना प्यार करते हैं कि मैं चाहती हूँ कि किसी भी तरह उनकी नफरत का पात्र बन सकूँ। मेरा प्यार उन्हें बिगाड़ रहा है। वह किसी काम के नहीं रह गये हैं। यह सब मेरी वजह से। चाहती हूँ मुझसे ऐसा पाप हो कि वह जानें और मुझे पीटने लग जायँ। उनके प्यार से मैं इतनी थक गयी हूँ कि अब तो चाहती हूँ उनकी मार मुझे मिलने लगे। पर आप यह क्या देख रहे हैं? सच बताइये लन्दन कब जा रहे हैं?"

"तुमसे यह किसने कहा?"

"उन्होंने ही कहा। मुझे साथ ले चलियेगा न? सेक्रेटरी बनाकर ले चलिये, क्यों? क्या नहीं ले चलियेगा न? बोलिये, कहिये।"

दीनानाथ और कुछ नहीं तो असमंजस में हँसता हुआ बैठा था। एकाएक वह कुछ बोला नहीं। अन्त में उसने कहा "ना, बाबा ना।"

"मैं इतनी खराब हूँ?"

"इतनी कितनी?"

"जितनी कि आप नहीं चाहते।"

दीनानाथ ने कहना चाहा कि उर्मिला तुम समझोगी नहीं लेकिन बीच में उर्मिला बोली "मैं खराब नहीं लेकिन कुछ दिन पति से अलग और दूर मैं नहीं रहूँगी तो मुझे सन्तोष न होगा। तभी वह अपना काम देखने लायक बनेंगे। बोलिये ले चलियेगा?"

दीनानाथ ने कहा "यहाँ तुम कितने दिन के लिए हो और किस स्थान से आयी हो?"

"आयी थी कि अपने को आप पर छोड़ दूँ, फिर लौटने की मेरे लिए जरूरत न रहे।"

"अब तो वह ख्याल नहीं है?"

'अभी तक आपने नही कहा है कि आप मेरा कुछ भी इतजाम नही कर सकते।'

क्या इतजाम ?"

"जैसा भी आप चाहे। [illegible] अपने यहा तो किसी मित्र के यहा। सब कहती है कि यह एकदम जरूरी है कि मैं उनसे अलग रहू। वह मुझे इतना चाहते हैं कि हम दोनो ही उस चाह मे घुटकर मर रहे है। मैं अपनी सूरत [illegible] ने आऊ जो अब तक खूबसूरत बनी है। हाय मुझे और सब स्त्रियो की तरह सामान्य बनना क्यो नही मिला ? क्यो इतना रूप मुझे [illegible] गया। किसी भी तो अब तक मुझ पर से वह खिमवता क्यो नही ! उम्र तो मेरी काफी हो चुकी है।"

दीनानाथ ने कठिन व्यग्य से कहा, 'तो तुम सामान्य नही हो ? '

उर्मिला उस पर खुले भाव [illegible] बोली [illegible] कि मैं सामान्य हू। [illegible] आपका [illegible] कि मैं सामान्य हू।'

दीनानाथ ने [illegible] कहा [illegible], बताओ वापिस तुम्हे अपने पति [illegible] लिए मैं क्या कर सकता हू ?'

[illegible] अपने पास मेरा कोई इतजाम नही कर सकते।'

[illegible]। [illegible] दिन न कल तब वह आ जायगा। सुनो तुम [illegible] साथ रहना है। अपने लिए नही तो बच्चो के लिए। तुम्हे ख्याल [illegible] कि तुम चली आयी हो तो बच्चे पीछे क्या कहते होगे ?'

उर्मिला ने दोनो हाथो से अपना मुह ढका और कठिन पीडा की वाणी [illegible] आप भी तो नही समझते ! क्या कोई नही समझेगा ? आप [illegible], पर छोडिए, शायद अन्तर्यामी भगवान के सिवाय कोई [illegible] जानता।'

दीनानाथ उस कातर वाणी को सुनकर चमक आया। [illegible] की [illegible] को वह कभी ग्रहण नही मान सका था, लेकिन इस पिछली बात मे बजन हुए व्यथा के स्वर का वह किसी भी तरह अनपहचाना न कर सका। [illegible] कहा उर्मिला, मैं शायद नही समझता। लेकिन क्या तुम इस बात को समझोगी कि मेरे आसपास की सफलता और सम्पदा निरा मेरा स्वाग है। वह मैं नही हू। वह मात्र आडम्बर है। तुम्हारी आखो मे

उसकी असलियत है। अगर वह असल है तो मैं एकदम नकल रह जाता हूं। इस नकली आदमी को ही शायद तुम जानती हो। शायद हो कि चाहती भी हो पर क्या तुम्हें मालूम है उर्मिला ! कि मैं अनाथ बालक था। कितना तब जगत से लतिआया और दुरदुराया गया हूं, इसकी तुम कल्पना भी नहीं कर सकती। मैं भीतर से वही निरीह और आवारा आदमी हूं। उस अपनी सचाई को इसी के लिए दबे फिरता हूं कि वह किसी के लिए रुचिकर न होगी। नकली आदमी बनकर जगत से व्यवहार चलाने में आसानी होती है। वहां मन नहीं, आदमी का माल पूछा जाता है पर जब मेरी मां मरी तो क्या मैं उस ढकने का कफन पा सका था ? इसलिए मुंह छिपाकर मैं वहां से भाग खड़ा हुआ था। उनका क्रिया कर्म सुना है पास पड़ोसियों ने किया। मरते वक्त की मां की निगाह मुझे याद है। वह निगाह मुझे हर वक्त चुभती रहती है। उसमें अमित दैन्य अमित याचना भरी थी, और मैं दो पैसे की दवा का उनके लिए बन्दोबस्त नहीं कर सका था। उर्मिला असली मैं वही हूं। आज नहीं जानता कि तुम्हारे सामने यह सब मैं क्यों कहने बैठ गया। लेकिन वह भ्रम जो मेरी नामवरी ने तुम्हारी आशा में भर दिया है मैं उस तुम्हारे साथ सफल हुआ नहीं देख सकता। इसलिए माफ करना तुम्हें अपने से कोई आशा रखने का मैं अवसर नहीं दे सकूंगा। तुम सफलता चाहती हो नाम चाहती हो प्रसिद्धि चाहती हो तुम रूपसी हो युवती हो, विदुषी हो, कलावन्त हो सब कुछ तुम्हें मिल सकता है लेकिन उस सब में मेरे लिए कहीं स्थान नहीं है। उस ऐश्वर्य की दुनिया में मेरा शव ही रह रहा है। मैं अपना निरीहता में बन्द हूं और उन सबसे मुझे कुछ वास्ता नहीं। सुनती हो, उससे मुझे कुछ मतलब नहीं। इसलिए इस मुझ अभागे से तुम किसी सहारे की आस न रखना। मेरी पत्नी है बच्चे हैं लेकिन तुम्हें कहता हूं मेरा कोई नहीं है। उसका जिसका कोई नहीं है, भला कोई क्यों बने ! माफ करना उर्मिला तुम्हें मेरे दुर्भाग्य का पता नहीं है इसी से शायद तुम्हारे माफ करने में कठिनाई हो रही है लेकिन ।

दीनानाथ कह जा रहा था। अब उर्मिला की ओर उसका ध्यान गया। उसकी दोनों आंखों से आंसू की धार बह रही थी। और वह अचल पत्थर की मूर्ति बनी बैठी थी। देखकर वह स्तब्ध हो आया। आगे उससे कुछ

कहा नही गया। उर्मिला के उस चेहरे को वह आतक से, अभीप्सा से, अभिलाषा से देखता रह गया। उस चेहरे ने कहा, "मा तुम्हें क्या कहती थी ?"

"दीनू !"

"तो दीनू ! मैं लौट जाऊगी। लेकिन क्या सच तुम्हारा मन कहता है कि मैं तुम्हें नही तुम्हारे धन को देख रही थी ? ओह, कैसे बताऊ कि पहले दिन ही मैंने तु हारी आखो मे देख लिया कि तुम इस दुनिया मे अकेले, बेहद अकेले हो। उसी क्षण से मैंने अपने लिए जान लिया कि तुम्हारे अकेलेपन को मैं अणुभर घटा सकू तो उसके लिए पाप की सहस्रो वैतरणी पार करने से मैं नही बचूगी दीनू, तुमको अपना मुह खोलकर यह कभी मुझे कहना होगा। यह सपने मे भी न सोचा था। आज मेरी ग्लानि का ठिकाना नही है। अपने रूप की सज्जा तुम्हें छलने के लिए मैंने की थी। जानती थी कि तुम छले जाने वाले नही हो, पर हाय छलने जाकर मैं ही छली गयी कि तुमने समझा मैं रूपसी ▪ और कुछ नही।'

कहकर उसने दीनानाथ के निश्चेष्ट पड़े हाथ को अपने हाथ म लेकर अत्य त नम्र अभ्यथना के भाव म माथे से लगाया और कहा, 'दीनू सच कहती हू, वह मायाविनी मैं न थी। वह थी तो व्यजन की भाति तुम्हारे समक्ष परोसे जाने के लिए ही थी। मैं तो अपने म सिर्फ परोसने वाली थी। समझते तो हो न दीनू ? अब निश्चि त रहो और जाओ, मैं आज ही लौट जाऊगी और आगे कभी तुम कुछ शिकायत न सुनोग।"

दीनानाथ इसके लिए तैयार न था। वह भीतर तक भीग आया था। उसने अब उठते हुए उसी भाति उर्मिला का हाथ लेकर माथे से लगाया और कहा 'उर्मिला भगवान से प्राथना है कि तुम सदा सौभाग्यवती रहो।" कहने के बाद वह ठहरा नही। बिदा लेकर धीमे और स्थिर कदमो से बाहर की ओर बढता चला गया।

और उर्मिला को ऐसा लगा कि अगर घुघरू होते तो वह इस समय ऐसा नाचती ऐसा नाचती कि उस नाच से अलग वह स्वय मे कही शेष हो ही नही।

अकेला

"मैं उनसे मिलकर ही आ रहा हूँ," मित्र ने कहा, "एक तरफ उड़द भीग रहे थे, वहीं कच्ची मूँगफली, इमली की पत्तियाँ और डंठल-समेत दो मूली रक्खी थी। यह उनका भोजन था। हमारी पुरानी जान पहिचान है। इससे घुलकर बातें हुईं। उन्होंने सब सुनाया कि कैसे—"

मेरे मन में इन तपस्वी के बारे में जिज्ञासा थी। उनके सम्बन्ध में जितना पता उससे अधिक सुना है। इससे मैंने मित्र से उत्सुकता में पूछा, 'उनसे आपका कब से परिचय है? कैसे हुआ? साधु वे कब बने?" इत्यादि।

मेरे बहुत से प्रश्नों को उन्होंने क्या उत्तर दिया उसे बताने से पहिले मित्र का परिचय देना आवश्यक है। मित्र मेरे हितैषी हैं, बुजुर्ग हैं, पर बराबरी का सम्बन्ध मानते हैं, बल्कि मेरा आदर करते हैं। मेरे कारण यह आदर नहीं है, उनका स्वभाव ही दूसरों का आदर करता है। सच तो यह कि मैं उनके सामने लज्जित होता हूँ। वे अतिशय सेवाभावी, तत्पर और कर्मण्य हैं। बीच में गृह-त्याग कर निस्पृह लोक-सेवक हो गये थे। इस अनुभव में लगभग बीस वर्ष उन्होंने दिये। इस बीच में उनकी पुत्रियाँ पत्नियाँ हो गयीं और पत्नी प्रौढ़ा हो गयीं। अन्त में समय आया और प्रतीत हुआ कि अब उस प्रयोग की अवधि आ गयी है। जीवन की परिपूर्णता उस राह नहीं है, यह लगने लगा। औरों से कटकर अकेला बन जाता है, और अकेला होकर व्यक्ति शून्य होता है। जगत् को अपनाने के लिए परिवार को पराया बनाना जरूरी नहीं है।

अनुभव का परिणाम उन्होंने पत्नी को सुनाया तो वह सहमत न हुईं। पत्नी की सम्मति थी कि उठा कदम वापस नहीं हो सकता। अब फिर गृहस्थी में पड़ना ऐसी कुछ क्या जरूरत है?

मित्र ने कहा, 'मैं अपने प्रति ईमानदार रहना चाहता हूं इसलिए अकेला रहना नहीं चाहता।

पत्नी ने कहा, "तुम जहां तक उठे वहां से तुम्हारी स्मृति को मेरे लिए नीचे उतारना सम्भव नहीं है। बीस बरस तुम्हारी जिस उन्नत मुद्रा का ध्यान करके जीती रही हूं जीवन का शेष वर्ष भी उसी तरह बिता ले जाऊंगी। अन्त समय तुम स्वयं उस जगह से उतरना चाहोगे इसकी मैं कल्पना भी नहीं कर सकती।

एक प्रकार से अपना ही किया मित्र के सामने आया। ब्रह्मचर्य, परिवार त्याग, अर्थ निवृत्ति और अखण्ड सेवा के आदर्श को एक दिन उन्होंने ही पत्नी में जगाया था। उस पति की सीख को फिर भरपूर चेष्टा से उस गर्वित नारी ने व्रत की भांति अपने भीतर गहरा उतार लिया। सब वह कुछ समझी थी, कुछ नहीं समझी थी। पर मन में मानती थी कि जो ये करेंगे उसमें मेरा कल्याण है।

एक दिन पति प्रस्थान को उद्यत हुए। पत्नी ने कहा, 'तो और तो सब ठीक है लेकिन इन लड़कियों का क्या होगा?'

पति ने कहा, 'सबका जोग क्षेम वहन करने वाला तो भगवान् है और उनकी सामर्थ्य में शंका करती हो?'

पत्नी ने माना कि पति की बात ठीक ही है। भगवान् हैं और वही मुझे पार लगायेगा। यह सोचकर उसने पति के चरण छू लिये। पति उस कल्याणीया के मस्तक पर आशीर्वादपूर्वक हाथ रखकर विदा हुए। उसके बाद की कथा पत्नी ने पति को नहीं सुनायी। वह कुछ छोड़ नहीं गये थे। फिर किस तरह घर का काम चलता रहा और पुत्रियों का विवाह हो गया बीस वर्ष बाद लौटकर पति ने भी इस बारे में कुछ नहीं पूछा। पति की लज्जा थी। वह उस समय अपनी उस गर्वोन्नता पत्नी के प्रति कृतज्ञता से भीग रहे थे, और यदि अब फिर साथ रहने का प्रस्ताव उनकी ओर से आया था भी तो उसमें यह भावना भी थी कि वह अतीत की कुछ क्षति पूर्ति कर सकें और उस वंचिता नारी को अन्त समय कुछ सुख दे दें। एक प्रकार वह प्रायश्चित करना चाहते थे।

किन्तु पत्नी ने अपना मुख नहीं देखा। उसने पति का मान रखा।

समाप्ति

बात हो पड़ी कि कोयले के भीतर आग है या वह कोयले के बाहर है?

एक ने कहा, 'अगर कोयले के अन्दर आग न होती तो वह कैसे जल सकता था। जब आग अन्दर ही नहीं है तब किसी प्रकार किसी प्रयोग से वह बाहर कैसे आ सकती है?'

दूसरे ने कहा, 'अगर यह बात है तो कोयला ही आग क्यों नहीं है। हमारे घर में ढेर का ढेर कोयला पड़ा है और एक बच्चा भी उससे खेल सकता है। लेकिन अगर आग जरा भी हो तो मजाल है कि कोई उसे छू भी सके।'

मेरे देखते-देखते दो मित्रों की बात बहस बन गयी। और जल्दी ही वह बहस गरम हो आयी। गरम इतनी कि पता चलना मुश्किल हो गया कि दोनों मित्र हैं कि दुश्मन।

एक कहता, 'आग है।'

दूसरा कहता, 'आग नहीं है।'

पहला, 'तुम कुछ नहीं जानते।'

दूसरा, 'तुम बेवकूफ हो।'

पहला, 'बेवकूफ! तुम गधे हो।'

दूसरा, 'गधे! [illegible] फिर ना कहना—'

लगता था कि दोनों में आस्तीन चढ़ने की नौबत आ गयी है। कोयले में आग हो न हो, पर उनके हाथ न उठने थे। लेकिन डर था [illegible] हो कहीं वह न हो पड़े।

मैंने कहा, 'सुनो भाइयो, चार बज गये। अब उस पार्टी में चलना है कि नहीं? चलो तैयार हो जाओ।'

हम सभी को एक पार्टी म जाना था। मित्र आय थे कि सब साथ साथ चलेंगे। लेकिन हमारी मण्डली का हरएक आदमी स्वाधीन चिन्तक है। इसलिए हमारे बीच म जब हाहा हीही नहीं होती, तब बहस हो जाती है। अभी यह कोयले की बात आपने सुनी। लेकिन कभी परमात्मा की बात बीच मे आ जाती है, कभी समाज सरकार की कभी इनकी कभी उसकी। पर बात का आदि परमात्मा की सृष्टि से आरम्भ हो कि पत्थर कोयले की आग स, इति सदा गर्मा गर्मी म होती है। माथा जा चढ़ता है अक्सर आस्तीनें आ चढ़ती है और मालूम होता ह कि परमात्मा के सृष्टि कर्तृत्व का अथवा कोयले म अग्नि की वतमानता का सदा क लिए निपटारा अभी हाल मुक्के के जोर से कर ही दिया जायेगा।

ऐसे समय चाय के प्याले या शरबत के गिलास का आगमन या मिष्टान्न का दशन या किन्ही महिला की उपस्थिति—आशय कि किसी माग स किंचित रसोपलब्धि हमको सुधि दिलाती है कि मुक्का मुक्की द्वारा तत्त्व निणय ही काल यापन का एक उपाय नहीं है, अन्य भी अनेक कम हैं। जीवन उनसे भी चलना है बल्कि बहस की जगह उन कामों को करना, कुछ करना कहला सकता है। उस समय आस्तीन का चढ़ाव गर-जरूरी हो जाता है, मस्तक खुल जाता है और मित्र मित्र के मित्र हो रहते है।

सो मैंने जब याद दिलायी कि अरे भाइ लोगो, पार्टी मे चलने के लिए तैयार हो जाओ, मैं श्रीमतीजी को भी कहता हू तब एकाएक तो जैसे वे समझे नहीं। बहस की चहक जो चढ़ी थी। उन्होने ऐसे देखा, जसे बेहद जरूरी काम मे उन्हें फुसत न हो और मुझ पर करुणा करना चाहते हो। मने फिर कहा, 'देखो घडी चार बजे वहा पहुचना है।'

तब उन्होने अनायास घडी देखी। हठात होश पकड़ा और धीरे-धीरे स्वस्थ हुए। गोविन्दराम ठण्डे होकर कुछ मद्धिम हँसे। बोले, 'ठीक तो है अनन्त! छोडो कोयले को। हम भी क्या खुराफात ले बैठते हैं।'

अनन्तराम भी मानो चैन पा उठे। बोले, 'ठीक तो है। यह क्या हम फिजूल की बहस ले बैठा करते हैं जी!'

गोविन्दराम अनन्तराम से ज्यादा सही हैं, और ज्यादा बुद्धिमान हैं, अथवा अनन्तराम ज्यादा है, यह प्रश्न उस समय महत्त्वपूर्ण मानो रह ही

नहीं जाता। भिन्न भिन्न बनकर, न छोटे न बड़े, मिले-जुले पार्टी में चले जाते हैं। खुश जाते हैं, खुश आते हैं, और खुश रहते हैं।

आप कहेंगे यह तो ठीक है। इन मित्रों की खुशी में हम भी खुशी हैं। दोस्त को हम दुश्मन नहीं चाहते। लेकिन प्रश्न है कि क्या तत्व चिन्ता और तत्त्व निर्णय आवश्यक कम हैं या नहीं हैं? क्या सबको सब-कुछ मानने और सबको सब-कुछ कहने दें? यह कैसे हो सकता है! झूठ का निराकरण और सत्य का प्रतिपादन किये बिना क्या हम रह जाएं? जी नहीं, कदापि नहीं। गोविन्दराम और अनन्तराम अपनी मित्रता को ध्यान में लाकर तत्त्व निर्णय की जिम्मेदारी से अपने को बचा लें तो बचा भी लें। लेकिन तत्त्वज्ञ उस जिम्मेदारी से कैसे बच सकता है? उस शत्रुता मित्रता पर तो अटककर नहीं रह जाना है। वह तो तत्त्व की बात बताकर ही छोड़ेगा। चाहे उसमें कोई शत्रु ही क्यों न हो जाये। गोविन्दराम अनन्तराम दुनियादार आदमी होंगे, जो बहस को किसी निर्णय तक पहुंचाए बिना ही छोड़ बैठें। किन्तु दायित्व का तकाजा है कि तर्क को तर्कान्त (लाजिकल एण्ड) तक ले जाना होगा, वहा जहां फिर अतर्क है। तत्त्वज्ञ भला बीच में कैसे हार बैठ सकता है। क्या बीच में उसे छोड़ देना कापुरुषता ही नहीं हो जायेगी! दृष्टि प्रहार का अवसर आये तो क्या उसमें भयभीत हो जाया जाये?

इस तरह के सवाल आपके मन में भी उठते होंगे क्योंकि, वे मेरे मन में उठा करते हैं। बहस के लायक विद्या तो मुझमें नहीं है। उतनी भाषा भी नहीं आती। लेकिन मालूम होता है कि अधिक ज्ञान मुझे होता और भाषा पर भी कुछ प्रभुत्व होता, तो ऐसे ऐसे प्रबल तर्क अपने तर्कस में से मैं खींचकर निकाल चलाता कि सब-कुछ खण्डित होकर रह जाता और प्रतिपक्षी धराशायी ही दीखता!

पर हाय, मैं अक्षम हूं। जानता-बूझता बहुत कम हूं। और जो जानता हूं, कह उसे भी नहीं पाता। लेकिन सोचा करता हूं कि जो कुछ भी मैं ठीक समझता हूं क्या सर्वथा वही ठीक नहीं है। तब अन्यथा समझने वालों को मैं क्यों न उसी (अपनी वाली) ठीक समझ पर लाने की कोशिश करूं। वे बिचारे भूले हुए हैं, भटक रहे हैं। भूल में अपना

अकल्याण कर रहे हैं। गलत को सही मान रहे हैं। असल मे सही क्या है, यह तो मैं जानता हू। तब क्यो न चल पड़ू और सबको सही राह दिखा डालू।

राहें बहुत हैं। जितने धर्म हैं, वे सब मार्ग ही तो हैं। लेकिन वे सब पथ झूठे हैं। जो मेरे धर्म का मार्ग है, वही एक सही और सच्चा मार्ग है। वही कल्याणकर है। बाकी धर्म के नाम पर जो रास्ते हैं, व सीधे अज्ञान मे और नरक मे ले जाकर पटक देते हैं। वैकुण्ठ धाम को जो सन्मार्ग पहुचाने वाला है, वह है जो मेरे धर्म का है। बाकी और पाखण्ड नही तो क्या है ?

अफसोस यही है कि मेरी जुबान म यह ताकत नही है और दिल मे वह पक्कापन नही है। उस दिन उन मौलाना का लेक्चर सुना था। क्या साफ बातें कहते थे! बडी बडी सचाइयो पर उनकी जुबान ऐसी रपटती चली जाती थी कि दाता तले अगुली देनी पडती। और शास्त्रार्थ मे सामने के वह पण्डित—वाह! क्या अगाध गम्भीर ज्ञान। मानो कोई रहस्य उनसे छिपा नही है। जो है उन्ह हस्तामलकवत है। पण्डितजी को कुरआन के भेद मौलाना से भी अधिक मालूम थे और मौलाना को तो वेदो की असलियत का पूरा ही-पूरा पता था। एक को मालूम था कि सत्कीरत का ईश्वर कैसे गलत है और दूसरे को ज्ञात था कि अरबीक का खुदा कैसे अज्ञानता है। और दोनो ऐसी ऐसी जोर की और अकाट्य बातें कहते थे कि जब एक की सुनता था, तब उसके जैसा मैं हो जाता था और दूसरे की सुनता था, तब वही सही मालूम होता था।

भाई यह दुनिया भी अजब पहेली है। पण्डितो ने और मौलवियो ने उसका पार पा लिया है। और ऐसा मालूम होता है कि उस पहेली का पार पाना है तो पण्डित बनो, या मौलवी बनो। या फिर सीधी राह है कि आख मूदकर किसी एक के मुरीद बन जाओ। नही तो हालत मेरी जैसी रहगी। दावे के साथ कुछ कहने की हिम्मत ही न होगी और बस नरम बने रहोगे।

लेकिन राह छोड हम यहा कहा आ गये। बात असल पर आयें। गोविन्दराम और अनन्तराम एक रोज फिर कोयले को और कोयले की आग को ले बैठे। तब फिर देर क्या थी। मित्रता दो-एक तर्क के झपाटो में ही झट कोयले के नीचे आ रही और दब गयी। मामला तूल पकडने लगा।

गोविन्दराम ने कहा, "तुम कहते हो कि कोयले में आग नहीं है ?"

अनन्तराम ने उतने ही जोर से कहा, "और, तुम कहते हो कि कोयले में आग होने के लिए दियासलाई की जरूरत नहीं है ?"

गोविन्दराम ने कहा, "अभी तुम्हें बारीक बातें समझने के लिए समय चाहिए।"

अनन्तराम ने कहा, "गनीमत है कि मेरी समझ आप जितनी मोटी नहीं है।"

बात की प्रचण्डता देख मैं चुपचाप उठा। अन्दर से एक कोयला लिया और खरल उठाया। बहस के मौके पर पहुँचकर दोनों चीजों को बीच में मेज पर रख दिया।

वे बोले, "यह क्या है ?"

मैंने कहा, "यह कोयला है, और जरूरत होने पर कोयले को पीसने के लिए वह खरल है। शायद ये चीजें तत्त्व निदान में कुछ काम आयें।"

थोड़ी देर बाद अनन्तराम को एक काम की बात सूझी। उन्होंने कोयले को हाथ में उठा लिया और कहा, "यह कोयला है। तुम कहते हो, इसमें आग है।"

गोविन्दराम ने कहा, "जाहिर है कि आग यह प्रकट नहीं है। नहीं तो आपको पता लग जाता।"

अनन्तराम ने कहा, "लीजिये, तो आप इसमें से आग प्रकट कीजिये। देखें कैसे करते हैं! क्या इसे तोड़कर दिखा सकते हैं कि वह आग इसमें कहाँ बैठी हुई है ?"

गोविन्दराम ने कहा, "दियासलाई एक कितनी देर तक जलती है ? एक मिनट भी तो जलती नहीं। लेकिन अंगार भी क्या दियासलाई के साथ बुझ जाता है ? अगर वह दहकता रहता है, तो क्या वह अंगारे की आग दियासलाई की कही जायेगी। दियासलाई बुझी पड़ी है, कोयला जल रहा है। आग कोयले के अन्दर न होती तो वह जलता रहता कैसे ?"

अनन्तराम पर स्वभावतः गोविन्दराम की बात का प्रभाव नहीं पड़ा। उन्होंने कहा, "देखो, मैं तुम्हारे सामने कोयले को पीसकर धूल किये देता हूँ। आग है तो वह जलती क्यों नहीं।" ऐसा कहकर वह सचमुच कोयले

को ठोक ठोककर खरल में पीसने लगे।

कोयला चूर हो गया और तब भी आग का पता न चला। अनन्तराम ने घोषणा की कि चूकि आग का पता नहीं चला है, इसलिए साबित है कि गोविन्दराम को कुछ आता जाता नहीं है।

गोविन्दराम ने भी ऐसी ही कुछ बातें कहीं। देर अधिक न थी। भृकुटिया में बल आ चला था। और अब नहीं तो अब, आस्तीनें चढ़ी ही दीखगी।

मैं घबराया। मैंने जोर से कहा, "सुनना, रज्जो जरा सुनना।"

तुरन्त तो नहीं (क्योंकि तुरन्त सुनने का कायदा ही उस बिरादरी में नहीं है) लेकिन कुछ समय के अनन्तर श्रीमतीजी ने सुना और कमरे में प्रवेश किया।

मैंने कहा, 'ये लोग बैठे हैं। पान वान कुछ तो भेजो।"

श्रीमतीजी ने सुना—शरमाईं, मुस्कराईं, और बेबात चेहरे को पल्ले की हल्की सी ओट दिये चली गई।

पलटकर क्या देखता हूं कि गोविन्दराम और अनन्तराम के चेहरो पर बहस और गरमी अब नहीं है। वहां अब शिष्टता है और शालीनता है। मैंने कहा "कोई बात नहीं। आप अपनी चर्चा चलाइये। इतने में पान आते हैं।"

अनन्तराम और गोविन्दराम दोनों तनिक धन्यवाद भाव से मुस्करा दिये और आगे चर्चा न चला सके।

श्रीमतीजी आकर चली गई और मैंने देखा कि उनके इस एक झांकी देकर बेताब चले जाने से दोस्तों के दर्मियान इकट्ठे हुए सब बादल जाने कहा बिला गये हैं। और किसीको ख्याल नहीं है कि तत्त्व निर्णय का तार टूटकर कहा छूटा रह गया है। और जब पान के बजाय एक-एक नमकीन, मिठाई और फलों की तश्तरी आ पहुची तो गोविन्दराम अनन्तराम बिना भेद भाव और वादविवाद के अखण्ड मित्र की भांति तल्लीनतापूर्वक उन पर झुक गये।

मैंने तब समाप्ति का सार पा लिया। मन में कहा, "खूब!"

रेल मे

मैं इलाहाबाद से आ रहा था। तीसरे दर्जे तक मे ज्यादा भीड न थी। लेकिन रात के वक्त सोना सबको नही मिल सकता था। गाडी सवेरे दिल्ली पहुचेगी, और मुझे रात इसी मे बितानी है।

दस बज गये, ग्यारह बज गये, बारह बज गये। सोने की जगह का सुभीता न मिला।

पास एक व्यक्ति दरी पर नयी सुजनी बिछाये लेटा था। पीछे उसके नया-सा सस्ता ट्रक और उससे लगा हुआ एक झालरदार छोटा तकिया था। मैंने देखा, बारह बज गये, वह एक मिनट को भी सोया नही। वह चैन के साथ देर तक लेटा भी नही रहता था। आराम की जगह पाने पर भी उसकी आखो मे नीद नही उतरती थी।

इटावा का स्टेशन गया और वह बिस्तर पर सजग बैठ गया। उसने मुझसे पूछा 'कहा जायेंगे बाबूजी!"

मैं किसी तरह उसे आप नही कह सका। उसकी आकृति मे वह बात न थी जो मुझसे 'आप' कहलाती।

मैंने जवाब मे पूछा, 'तुम कहा जाओगे?"

"मैं? आप टूडला जानते हैं? फीरोजाबाद, और उसके एक स्टेशन बाद टूडला। टूडला जक्शन है मैं वहा उतरूंगा। आपको मालूम है, आगरा वाली गाडी तैयार मिल जाती है क्या?"

मैंने कहा, 'नही, मुझे नही मालूम।' और मैं प्रतीक्षा करने लगा कि वह अब आगे क्या कहता है। उसे अपने से दूसरा कोई चाहिए था। वह अभी तक अपने आप मे समाया रहा, यह जैसे बहुत बात थी। हर स्टेशन के प्लेटफार्म पर उतरता और कभी यह से कभी वह, कभी यहा जा, कभी वहा, अब कुछ कर, तब कुछ, इस प्रकार वह आते हुए समय के साथ अपने

को लगाये रखता था।

"टूंडला तो आपने देखा होगा। कभी बस्ती में गये हैं? बस्ती कुछ नहीं है। बस, स्टेशन-ही-स्टेशन है। मैं टूंडला नहीं रहता। टूंडला के पास एक जगह है। पांच मील होगी। बस, एक स्टेशन है। यों पैदल भी चले जाओ। रेल मिली मिली, नहीं तो मैं पैदल ही जाऊंगा। सामान क्या है, थोड़ा-सा है। मैं कलकत्ते से आ रहा हूं।"

मुझे वह कुछ अनअंचता सा आदमी मालूम हुआ। उसे अपनी ही धुन थी। वह जैसे आशा करता था कि मैं उसकी बात में उतना ही घुलू-मिलूंगा जितना वह। मैंने उसे जांच से देखा। चमकती पालिश के नये सस्ते शू पहने था। पैरों में बढ़िया मोजे थे। मूछें किनारों से जैसे चलते वक्त ही कटवायी गयी हों। पतलून थी और कोट था।—वे नफीस कट के थे, साफ थे। वे बनवाये नहीं गये, खरीद गये होंगे। बार-बार जेब से बूटीदार रेशमी रूमाल निकालकर वह अपने जूतों पर चढ़ी धूल को झाड़ लेता था। टाई थी और आंखों में सुरमा था।

"आप अच्छी तरह बैठ जाइये। इधर आ जाइये अजी, बिस्तर आपका ही है। आप देखिये, मेरी आंख लग जाये तो शिकोहाबाद पर जगा दीजियेगा। जरूर जगा दीजियेगा। तीन बजे गाड़ी टूंडला पहुंचेगी—क्यों साहब! पांच होते होते गांव पहुंच आऊंगा? गांव, मैंने कहा न टूंडला से पांच-सात मील है। आप पूछते हैं कलकत्ते कितने दिन रहा? मैं दो साल कलकत्ते रहा। तब से अब आ रहा हूं क्या करता रहा? एक हमारी तरफ का आदमी वहां एक सेठ के यहां दरबान है। [illegible] तो पहले आंख मिची जाती थी—कलकत्ता है कि इन्दर का अखाड़ा है। मोटर ही मोटर, गाड़ी-ही-गाड़ी, मकान-ही मकान। ' [illegible] म गया था। वहां करोड़ों आदमी रहते हैं और सबको काम मिलता है। पर दो महीने तक मुझे कुछ काम नहीं मिला। फिर क्या किया? फिर बारह रुपये की नौकरी मिल गई। पांच [illegible] खोमचा लगाया। रहता उसी गांव के [illegible] आने से ज्यादा न खर्चता था [illegible] लीजिये, लो आइये।"

मुझे बेशक नींद आ रही थी। अगर मैंने उसकी बातचीत के बीच में 'हां' या 'ना' कहा तो समझिये सिर्फ अपनी नींद टालने के लिए और अपने को और उसको यह जताने के लिए ही कहा कि मैं सो नहीं रहा हूं। उसकी कथा चलती ही जाती थी और यदि उसका कुछ भाग मेरे चित्त पर बना रह गया है तो उस बात के कारण जिसने उसकी सारी बात में अर्थ ला दिया और रस भर दिया।

उसने बार-बार कहा कि मैं शिकोहाबाद स्टेशन आने पर उसे अवश्य जगा दूं। बार बार कहा कि उसे टूंडला उतरना है और कि टूंडला बड़ा स्टेशन है। और यह कि वहां से पांच मील उसका गांव है और पांच बजे तक वह अपने घर पहुंच जाएगा।

यह स्पष्ट था कि मुझे जगाने का मौका न आना था। नींद उसे आ ही नहीं सकती थी। कुछ उसके भीतर से इतना उबल कर आ रहा था कि ठहर कर कुछ देर एक स्थान चुप बैठे रहना उसके बस का न था। वह बार बार अपने जूते साफ करता, नकटाई ठीक करता, जेब से बार-बार उसी जूते वाले रूमाल को निकालकर हाथ और मुंह पोंछता, ट्रंक खोलता और उसके भीतर के सामान को एहतियात के साथ तहाता। वह जहां पहुंचना है पहुंचने के लिए बहुत व्यग्र मालूम होता था। वह लोभनीय दीखना चाहता था। वह जैसे 'रोमांस' पहने घर पहुंचना चाहता था।

घर! मुझे मालूम नहीं घर उसका क्या है? क्या यह आदमी पिता है? अपने जूते, अपने चहर, अपने रूमाल, अपने सामान की सज और धज के बारे में जो इतना सम्भ्रमशील है वह पिता है? तब क्या वह पति है? हो सकता है

जब मैंने देखा कि नींद पाना मेरे लिए असम्भव है, तब हिम्मत करके पूछा, "घर में तुम्हारे कौन है?"

'घर में कौन है? मैं दो-ढाई बरस बाद घर जा रहा हूं, अब मालूम क्या, कौन है?'

मैंने कहा "कोई तो है, जिसके लिए यह ठाठ है।"

वह झेंपा-सा। मानो वह अब ममस्थल पर छिड़ा है। मानो जो अब तक था वह इस स्थल को आवृत रखने के लिए आवरण था। अथवा इस

स्थल तक पहुचने के लिए भूमिका रूप था। जो के भीतर से यही बात उमगकर आना चाहती थी, पर नही आने दी जा रही थी। इसस ऊपरी सतह की बातें ही अब तक उखड़-उखड़कर बाहर की ओर बिखरती थी।

उसन कहा, "बाबूजी, आप कैसी बात कहते है? और वह हँसा, फिर बोला, "घर म, हा, है। पर क्या आप समझते हैं, वह सुशीला है? उसे मेरी फिकर है? वह मेरी बाट देखती होगी? सच बात यह है, वह बड़ी कलहकारिणी है। पैसे के लिए उसे मेरी चाहना है। मैं पहुच रहा कि ले, पैसा ले, अब तो वह मुझे पूछेगी!"

मैंने कहा, "क्या वह बहुत नवेली है?"

'यह बात नही है, बाबू जी! वह कुछ भी नही है। मैं उसे मानता हू, सो हा वह अपने को समझने लगी है। मैं पूछना छोड दू तो उसे सब पता लग जाय।"

उसके शब्द बिना कठिनाई से निकल रहे हैं। वसे ही जस मन की ऊपरी बात साफ मुह से निकल आती है। झूठ बात चिकनी होती है और मन उस सरलता से बाहर फेंकता है। सच बात को खीचकर निकालना होता है क्योकि वह जी के भीतर बहुत गहरी गई होती है। शब्द मुह से जो निकल रहे हा, पर उसके चेहरे पर स्पष्ट लिखा था कि जो वह कह रहा ह, हलके मन से कह रहा है। सत्य उससे विपरीत है। साफ था कि बात असल यह है कि वह उसका (घरवाली का?) बहुत मूल्य आकता है। वहा अपना केन्द्र मानकर उसकी आकाक्षाए और योजनाए अपना पसारा फैलाती हैं।

मैंने कहा, "देखो बाबू, वह कही और जाये तो तुम जाने दोगे?"

वह एकदम आहत हो झुक गया। बोला, "आप ऐसी बात कैसे कहते है? मैं कभी उसकी मरजी को रोकने वाला हू? उसे काहे की छुट्टी नही है? लेकिन, आप नही जानते उसने क्या-क्या मेरे लिए झेला है! वह मेरी चाहना नही है, लेकिन जो मुसीबत उसने मेरे साथ मिलकर काटी है उसे याद करते अब डर होता है।"

× × ×

यह मुझे याद न रहता। लेकिन कुछ और भी हो गया। टूडला स्टेशन

पर वह उतरा। उसने मुझसे विदा मांगी और मैं साथ-साथ प्लेटफार्म पर उतरकर आया और काफी दूर तक उसके साथ गया। विदा लेकर लौटता हूं कि राह में मेरा ध्यान हठात एक भीता चकिता स्त्री के मुख की ओर चला गया। जैसे एकाएक उस स्त्री का मुख विवर्ण हो उठा हो और वह उसके लिए अनुद्यत हो। उसके साथ एक पुरुष था। दोनों साथ उसी आनेवाली ट्रेन की ओर जा रहे थे। मैं उनके पास से निकलता हूं कि देखा उस स्त्री ने उस पुरुष की बांह थामकर उसे रोक लिया है और मानो जाने से इन्कार कर रही है।

तभी झपटती-सी यह बातचीत मेरे कानों में पड़ी—

'क्या है! चल न।"

'नहीं जाऊंगी। तुम्हारे तो आंख नहीं हैं। इसीसे वह जा रहा है।"

"कौन ?"

"वुही !"

"कहां जा रहा है ?"

"गांव जा रहा होगा। मैं अब नहीं जाऊंगी। लौट चलो।"

"डरती क्यों है ? कोई तू उसकी ब्याहता है ?"

"नहीं-नहीं-नहीं। मुझे वह मार डालेगा।"

"चल री। देखूं, कैसे आंख तक उठाता है। मैं—"

मुझे ऐसा मालूम हुआ कि पुरुष इस पर राजी हुआ। किंतु, मैं रुका नहीं, चलता चला आया। और इस घटना की पीठिका पाकर अपने उस साथी की बातचीत मेरी याद में उभरकर बैठ गयी।

सम्बोधन

मैं आ गया और मेरे आने का उसे पता न लगा। आंख मूंद आराम-कुर्सी पर वह लेटा हुआ था। मैं धीमे धीमे कुर्सी तक गया और खड़ा रहा। घड़ी मेज पर टिक टिक कर रही थी। गर्मी थी और पंखा बन्द था। मेज पर पेपर-वेट के नीचे कुछ कागज बिखरे पड़े थे। दूसरी मेज, जहां रोज नियम से दो क्लर्क बैठे काम करते होते थे, बिलकुल खाली थी और कमरा सुन, व्यवस्थित, अकेला था।

ये सो रहे हैं या सोच रहे हैं? और मुझे आतुरतापूर्वक बुलाकर आप बेखबर हो रहने का प्रयोजन क्या है? मैं चुपचाप फिर दरवाजे पर लौट गया और वहां से पैरों की आहट करता हुआ वापिस कुर्सी की ओर बढ़ा।

वह एकदम चौंककर उठा, उठकर खड़ा हो गया, पहचाना। "ओह, आ गये। मैं जानता था, तुम आओगे। क्योंकि न आते तो मेरी मौत आती। मुझे भरोसा था। भरोसा तुम्हारा ही मुझे है। बैठो।"

—कहकर मेरा हाथ पकड़कर, अपनी कुर्सी की ओर मुझे खींच लिया और आप दरवाजे की ओर बढ़ा।

'बैठो बैठो। क्या पौने दो हो गये। कुशल हुई। तुम खूब ही वक्त पर आये। तो मेरा नसीब बिलकुल नहीं मिट गया है। आध घण्टा और हो जाता तो गजब ही हो गया था। ऐसा गजब कि फिर जाने क्या होता। पर अब ठीक है। बैठो बैठो, मैं भी बैठता हूं।"

मैं उसे देखता रहा। मैं इतना तैयार न था। मुझे गुमान न था कि हालत चढ़ी होगी और अनुमान न था कि बात क्या है।

उसने जाकर दरवाजे की चटखनी बन्द कर दी, बिजली के पंखे का मुंह मेरी ओर करके चला दिया और एक कुर्सी पर बैठ गया। मुंह उसका चटखनी की ओर था और बन्द था। वह बोला नहीं। मैंने कहा, 'क्या है?"

वह जैसे दम से रहा था। वह कुछ बोल नही सका। पर उसकी सम्पूर्ण मुद्रा से उत्तर मिला कि मैं तनिक उसे सभलने दू।

मैं रुक गया। कुछ देर बाद फिर पूछा, 'आखिर बात क्या है ?"

कुर्सी उसने अब मेरी ओर कर ली। कहा, 'बताता हू। पर, तीन बजे तक, देखो तुम मत जाना। मैं यही कहता हू। मैं जब कह दू, तब जाना।'

मैंने उसे देखा। कहा 'नही। मैं अभी नही जा रहा हू। लेकिन और सब लोग कहा है ? और यह क्या बात है—तुम ऐसे क्यो हो ?"

उसने कहा, मैंने सबको भेज दिया है कि शाम तक न लौटें। इसका इन्तजाम किया है कि मैं अकेला रहू। सहायता पास न रहू। निस्सहाय होकर डूब जाऊ। पर ज्यो ज्यो मिनट बीते और वह घडी पास आने लगी तब आप जानो कि डूबना ही एक राह नही है, और मेरे पास तुम हो। तुम हो तब क्या डूबू ? तुमको पास बुला लूगा, और मैं तिर जाऊगा। और तुम आ गये हो। यह गाने की आवाज सुनते हो ?'

हा, मैंने गाने की आवाज सुनी। हार्मोनियम बज रहा था और उसके साथ कभी कभी एक स्त्री कण्ठ आलाप लेता था। बाजा और बजाने वाली कही पास ही थे। सगीत की आवाज बन्द कमरे में खासी स्पष्ट आ रही थी।

उसने पूछा, 'क्या कहते हो ?'

मैं समझा नही।

"गाना कैसा है ? और बजाना कैसा है ?'

मैंने कहा "कोई खास अच्छा नही।

उसने आवेश मे कहा, "खास अच्छा नही, बिलकुल ही अच्छा नही है। अच्छाई उसमे नाम को नही है। तुम जानते हो, गाना अच्छा क्या होता है ? मैं भी ऐसा नही जानता। पर यह किसी तरह अच्छा नही है। किसी तरह नही है।—यहा दो बजे यहा आनेवाली थी।

मैं उसे देखता रह गया।

'पर, अब नही आयेगी। अब तुम हो और द्वार की चटखनी बन्द है। देखते हो न, मैं इनोके लिए अकेला था। मैंने सबको दूर भेज

दिया था कि दो का वक्त पास आये। पर, अब दो बजते हैं फिर भी मुझे डर नहीं है। मैं तुम्हें सब बताऊँगा। तुमसे जानूँगा कि मैं क्षम्य हूँ। तुमसे सुनूँगा कि मैं बीत नहीं गया हूँ। मुझे पता नहीं होता कि क्या बात होती है। तुम मेरी पत्नी को जानते हो। कौन अन्धा है कि कहेगा वह सम सुन्दरी है। और मालूम नहीं तुमने कभी उसका गाना भी सुना था नहीं। सच कहता हूँ खूब गाती है। और बजाने में, छात्रावस्था में, कई पदक पाये हैं। पर घर में सब बन्द है, और गाने की जगह कलह होता है। उसके बारे में मेरे जी में ऐसा निरुत्साह बस गया है कि वह गाना भूलती जा रही है और बाजा पर धूल जम रही है। और गाने के नाम पर यह चिल्लाना सुना न? लेकिन सच कहूँ तो अभी पड़ा आँखें मींचे मैं इसीका रस ले रहा था। इस बेसुरी चीख में रस कहाँ है, रस की ठठरी है, पर मैं रस ले रहा था। उसी में अपने को भूल जाने का अवसर मैं निकाल लेता हूँ। भाई, यह क्या होता है? यह देखते हो, यह कम्बख्त हाथ का बाजा? सीखने के लिए मैंने मँगा लिया है।—रोज दो घण्टे, तीन घण्टे, यह बाजा इस तरह बेसुरा सिर पर चीखता है। पर उसी को सुनकर मैं इतना व्यग्र हो उठा कि यह बाजा मँगा लिया। इस पर वही गीत सीख रहा हूँ, जो सुनता हूँ। भाई क्या इस संगीत-सम्बन्धी अपने उत्साह का कुछ भी भाग मैं पत्नी के सामने होकर अपने भीतर कायम नहीं रख सकता? और यह लड़की! देख पाओ तो जानो, सौन्दर्यहीनता क्या वस्तु है। रंग की मैली है। थोड़ी सी अंग्रेजी जरूर पढ़ गयी है, पर, वह उसके भीतर रहकर नहीं टिक पाती मानो उघड़ी उघड़ी पड़ती है। पच जाती तो गुण बनकर उसका सौन्दर्य बढ़ाती। अब बाहर फलकर केवल फैशन बढ़ा पाती है। सब-कुछ है, लेकिन मुझे बताओ, मैं क्या करूँ? अच्छा ठहरो। मैं दिखाता हूँ"

मैं उसे देखता ही रह सका। उसने मुझे कुछ बोलने का मौका नहीं दिया। बहुत कुछ था उसमें जो बन्द था, घुट रहा था, और बाहर हो रहना माँगता था। उसने चाबी से बड़ी मेज की दराज खोली, डिब्बा निकाला, उसे भी चाबी लगाकर खोला और कुछ कागज निकालता था कि बाहर से दरवाजा हलके खटखटाया गया। उससे पहले खटखटाहट रुकी हुई।

उसके कान मानो वहीं थे। भयत्रस्त हो एकदम सब छोड़कर उठकर वह मेरे पास आ गया। उसने मेरे कान में कहा, "दया करो, कुछ बोलो। कुछ बोलो, और जोर से बोलो। कह दो, नहीं हूं।"

मैंने धीरे से कहा, 'डरो मत। जाकर दरवाजा खोल दो। झूठ का आसरा मत लो जीत का रास्ता यह नहीं है।'

खटखटाहट ठहर ठहर कर जारी रही।

वह बेहद कातर हो उठा। उसने कहा, 'इस वक्त मुझे बचा लो। कुछ जोर से बोलकर अरे यह जतला दो, भीतर कोई और भी है।"

मैंने कहा 'तुम नहीं जाते तो मैं जाकर दरवाजा खोले देता हूं।'

बाहर से बहुत धीमी-सी आवाज आयी—'शंकर '

शंकर ने मेरे पैर पकड़ लिए, 'अच्छा, दो मिनट रुक जाओ। वह आप चली जायेगी। देखो '

उठो शंकर मैंने कहा, जाओ, किवाड़ खोलो, नहीं तो मैं खोलता हूं।" इस बार धीमे धीमे द्वार पर दो थपकी दी गयी।

शंकर विमूढ़ खड़ा रह गया, हिल न सका।

मैंने जाकर चटखनी खोल दी।

दरवाजा खुला और एक सोलह वर्ष की लड़की सामने दिखाई दी।

वह स्तब्ध, फक रह गई।

मैंने कहा, "आइए।'

वह लौट भी न सकी, आ भी न सकी।

मैंने कहा, "आइये, शंकरदयाल यह हैं।

वह अन्दर आ गई। शंकर मूढ़ हो बैठा। उसने नीचे देखा, ऊपर देखा, फिर सामने देखता खड़ा रह गया।

किशोरी ने कहा, 'मैं—मैं

मैंने कहा, 'शंकरदयाल यह महिला क्या मांगती हैं सुनो।

किशोरी ने कहा "मैं—मैं 'परख' चाहती हूं। आपके यहां है?'

शंकरदयाल ने चुपचाप एक शेल्फ से 'परख' की एक प्रति निकाल कर देदी की।

किशोरी, "कीमत तो इस समय मेरे पास नहीं है। मैं पूछने ही आई

थी, है या नहीं।"

शंकर, "आप ले जाइये।"

किशोरी, "नहीं, फिर ले जाऊंगी।"

शंकर, "किताबें बिकती मेरी दुकान पर हैं।"

किशोरी, "मुझे मालूम नहीं था, मैं क्या जानती, वहीं से मंगा लेती। भाई ने कहा था, यहां से मिल जाती हैं। मुझे माफ कीजिये।"

मैंने कहा, "आप यह प्रति ले जाइये। और कीमत आपको नहीं देनी होगी।"

किशोरी सकटाप-न दृष्टि से मेरी ओर देखने लगी। उसे मेरे बारे में जैसे बड़ा भारी सदेह हो आया। क्या मैं उसके प्रणय भेद से परिचित हूं? मैंने तुरन्त कहा, "शंकरदयाल अवश्य पुस्तक विक्रेता हैं। किन्तु मैं 'परख' का लेखक हूं। मेरी ओर से आप यह प्रति ले जाइये।—शंकरदयाल यह प्रति उन्हें दे दो। मूल्य नहीं लिया जायेगा।"

बेचारी यह बाला मतु-कर्तव्य हो रही। शंकरदयाल ने जब वह पुस्तक उसकी ओर बढ़ायी तो न हाथ फैलाकर ले सकी और न स्पष्टता से इनकार कर सकी।

मैंने कहा, "लेखक की हैसियत से मेरे लिए यह बिलकुल असह्य है कि मेरे सामने कोई मेरी पुस्तक मांगे, और पुस्तक हो, फिर भी वह न मिले। आप निश्चय रखें, मैं कभी यह न सहूंगा।"

उसने हाथ बढ़ा दिये मानो होनहार को उन हाथों थामना होगा ही—इस भाव से।

शंकर ने वह प्रति उन हाथों में दी।

किशोरी ने कहा, "मैं दाम शाम तक भिजवा दूंगी।"—और शीघ्रता से चली जाने को वह तयार हो गयी।

मैंने कहा, "दाम आप बिलकुल नहीं भिजवा सकेंगी। और शंकर तुम बिलकुल नहीं ले सकोगे। और आप जाती अभी क्यों हैं? 'परख' के लेखक के कहने से कुछ देर भी नहीं ठहर सकतीं?"

इस तरह रोकी जाकर वह बोली, "मुझे काम है। बस किताब को पूछने आयी थी। अम्माजी भी कहती थीं मैं पढ़ूंगी। मुझे मालूम नहीं था,

यह गलत है कि यहां किताबें मिलती हैं। मुझसे भाई ने कहा था, किताब चाहिए तो शंकर के यहां पूछ लेना। पूरा नाम भी नहीं जानती थी—शंकरदयाल। सो, अभी इनका नाम पूछती चली आयी। सोचा, गर्मी के मारे किवाड़ बन्द कर लिये हैं, भीतर लोग काम कर रहे होंगे। मैं नहीं जानती थी कि आज कोई नहीं है। मुझे माफ कीजिये मैंने आपका हरज किया।'

और इस कैफ़ियत के बारे में मानो आप ही आप संदिग्धचित्त होती हुई वह अपनी नयी धानी रेशमी साड़ी में सकुचकर रह गयी। वह अबोधा नहीं जान सकी कि एक अजनबी की आंखों में इतना कुछ कहकर अपनी प्रामाणिकता को प्रमाणित करने की चेष्टा अपने-आप में ही संदिग्ध होकर प्रकट होती है। उस समय जी में आया उससे कहूं कि बेटा, सत्य सदा सुन्दर ही है। सत्य में मंगल है, जय है। किन्तु तभी मुझे यह भी प्रतीति हो गयी कि कहीं अप्रिय सत्य को रोक रखना ही धर्म क्यों बताया गया है। मुझे तब भली प्रकार जान पड़ा कि अहिंसा सत्य का व्यावहारिक रूप क्या है। अहिंसा-हीन सत्य का सेवन आत्म-हीन प्राण-हीन जड़ का सेवन क्या है। और मैं किसी प्रकार भी उस छाया के आसरे को तोड़ने की हठ अपने भीतर नहीं जगा सका जो उस बेचारी बाला ने विपदा की हालत में भी झीनी असत्य की जाली ऊपर तानकर अपने लिए छा लिया था। यह माया की जाली यदि अभी अभी छिन्न भिन्न होकर हट जाय तो वह कैसे सह सके? जीना इसे दूभर न हो जाय? लाज की मारी बिचारी मर न जाय?

मैंने कहा, 'मैं समझा था आप यह जानती हैं। अब जाना कि आप पूरा नाम भी नहीं जानती थीं। आप कहीं पड़ोस में ही रहती हैं शायद। साहित्य की सब प्रकार की पुस्तकें इनके यहां आती हैं। और जो जरूरत हो, वह मंगा दे सकेंगे। वह मेरे मित्र हैं मेरी ओर से आपकी आवश्यकताओं का निस्सन्देह वह आदर करेंगे। परन्तु पढ़कर आप इन्हें बता जायं और अवश्य बता जायं कि आपको कैसी लगी। मैं इनसे पूछूंगा।"

जहां संदेह का और अवज्ञा का उसे भय था वहीं से सहज विश्वास और अप्रत्याशित आदर उसने पाया तो सिर से पांव तक वह लज्जायुक्त आत्म-संकोच में डूबने को हो गयी, और क्षण भी और न ठहर सकी,

झटपट चली गयी।

२

स्वस्थता पाकर शकर ने कहा, "यह तुमने क्या किया!"

मैंने माना कि सच, मैं कुछ नहीं कर सका।

शकर, "तुमने मुझे डूबने के लिए बाकी नहीं छोड़ा था। खैर, तुम्हीं ने बचा भी लिया। तुम क्या चाहते थे?"

मैंने पूछा, "शकर, तुम क्या चाहते हो?"

किन्तु शकर क्या, चाहता है? वही चाहता है जो बहुतों ने चाहा है, कम ने पाया है। कर्त्तव्य की साधने एक राह उसने बनायी है। चाहता है उसी उसी पर चले, डिगे नहीं। और देखता है, सब कुछ मानो उसे उस पर से डिगाने पर तुला है। वह नहीं डिगना चाहता पर डिग बिना भी कैसे रहे! वह चाहता है कि कोई उसे बचाये। वह चाहता है कि क्यों उनकी पत्नी ही उसके लिए सब-कुछ न हो रहे, जैसे कि वह सब-कुछ हो रहने योग्य है। जो है नहीं, वही तो वह चाहता है।

मैंने कहा, "मैं तुम्हारी जीत चाहता हूं शकर, और चाहता था कि तुम दोनों को एक साथ छोड़कर मैं चला जाऊं। तुम दोनों एक दूसरे के चोर बनकर न रह सको, सुहृद बनकर रहो। मैं इसका प्रबन्ध करना चाहता था। पहले भय छोड़ो। भयभीत होकर जो कर्त्तव्य-पालन होता है, समझो, वह टूटने के लिए अवसर की प्रतीक्षा में ही रहता है। वह टूटा भला। भय पर कर्त्तव्य को मत टिकाओ, उसे सत्य पर खड़ा करो। पहले असच्चरित्र माने जाने की क्षमता जगाओ। फिर अपने बल सच्चरित्र बनो। भय के अवलम्बन पर खड़ी सच्चरित्रता बालू की भीत पर खड़ी पताका है। लगता है, हम जयी होकर खड़े हैं, पर वह विजय का व्यंग्य है। वैसी विजय की इच्छा भी नहीं करनी चाहिए। हार अपनाने की खुली विनम्र तैयारी में से जय बनती है। इसलिए मैं चाहता था कि तुम दोनों में आपसी सम्बन्ध के बारे में स्तेय भाव की चेतना कम हो, और यह चेतना उत्पन्न हो कि एक है जो साक्षी है, और तुम दोनों को इसलिए साथ और पास करना चाहता हूं कि तुममें एक-दूसरे के प्रति आदर भाव उत्पन्न हो। आज तुमने अपने को लाचार कर लिया है कि एक दूसरे का इतना

भय करे कि प्रेम के लिए छल और चोरी की सहायता लेनी पड़े। तुम्हारे मन में उसका आदर नहीं, उसके जी में तुम्हारा नहीं। फिर भी तुम टोह में रहते हो कि एक क्षण अवसर पाओ, उसे देखो, और सामने कर-चुम्बन के प्रार्थी होकर खड़े रह जाओ। फिर, तुम ग्लानि जगाते हो कहने को बाध्य होते हो कि वह असुन्दर है, हीन है, अपात्र है। मैं कहता हूं, यह विषमता भय ने पैदा की है और यह आकर्षण चोरी की आवश्यकता में से निकला है। निर्भीक बन सकोगे तो सहज भाव बढ़ेगा। खुल रहोगे तो आकर्षण तीखा नहीं रहेगा, स्निग्ध होगा।"

किन्तु, मैं इतना बोलना चाहता नहीं था। और मैंने देखा कि उसका मुंह सूना है। हाय, वह मुझसे क्या चाहता है। मैं तो अपेक्षाहीन सत्य ही कह रहा हूं। वह विरक्ति के उपदेश-सा नहीं लगता और उनमें भर्त्सना नहीं है, यह तो ठीक ही है। तब क्या वह प्रत्यक्ष तिरस्कार ही चाहता है, ठोस नीति ही चाहता है? किन्तु जो जितना ही ठोस और प्रत्यक्ष है वह भी उतना ही कम भीतरी और उतना ही कम अमोघ है।

उसने कहा "अरे विद्याधर तुम क्या-क्या कह रहे हो। अरे, मुझे बढ़ावा मत दो, मुझे तो शान्ति दो।"

मैंने तब कहा "मुझे तुम क्या दिखाना चाहते थे। दिखाओ तो।"

उसे जैसे टूटा सिलसिला याद आ गया। वह गया, बक्स में से कागज निकाले, बक्स को फिर वहीं रख दिया और मेरे पास आ गया। कहा, "ये उसकी चिट्ठियां हैं। देखकर बताओ, मैं क्या करूं?"

मैंने एक को देख लिया, दो को देख लिया, तीन को देख लिया। फिर सब बन्द करके रख दी।

पूछा, "तुमने कुछ नहीं लिखा?"

शंकर, "लाचार होकर लिखा। पहली तीन चिट्ठियां उसकी थी।"

मैं, "तुम्हारे पत्र प्रेमपत्र नहीं थे?"—

शंकर, "कैसे हो सकते थे?"

मैं, "उन्हें जला दो।"

शंकर, "जला दूं?"

मैं, "किताबों की जूठन उनमें बहुत है। हृदय के पत्र होते तो रखने

के लिए मैं मांग लेना। अब उनका उपयोग कुछ नहीं है।"

शंकर, "लेकिन जला दूं?"

मैं, "जलाना इसलिए आवश्यक है कि ऐसा न हो कि कभी वह बाला उन्हें देखे, और लज्जित हो।"

शंकर, "इससे सब-कुछ निबट जायेगा।"

मैं, "नहीं, सब कुछ नहीं निबट जायेगा। तुम अपनी पत्नी से मिलो। एक एक बात उससे कह दो। ऐसे कहो कि उसमें यह ध्वनि तनिक न हो कि दूसरे पक्ष का दोष है। और, यह मुझसे सुनो कि दूसरे पक्ष का दोष नहीं है।"

शंकर, "क्या—आ?"

मैं, "दोष का तनिक भी भाग तुम्हारा मन दूसरे पक्ष पर जब तक टाले, समझो कि मन अनुकूल नहीं है। वह स्थिति आनी चाहिए कि अनुभव हो, जगत के प्रति मैं ऋणी हूं, मैं अपराधी हूं। जगत को दोष देकर छुटकारा नहीं मिलेगा। छुटकारे के लिए, सब बात के लिए अपनी ओर देखना होगा।"

शंकर, "किन्तु, मैं कह कैसे सकता हूं? स्त्री को यह कहूं?"

मैं, "हां स्त्री को यह कहो। स्त्री से न कहकर कहां जाओगे? स्त्री से अधिक अभिन्न, अधिक निकट, मुझे या और किसीको बना सकने की आशा मत रखो। उससे न कहोगे जिसके साथ अभिन्न जीवन होकर रहने की प्रतिज्ञा समाज के, अपने और परमात्मा के सामने लेकर, घर बनाने का अधिकार और आज्ञा पाकर, आज यहां बैठे हो? और यह भी समझो कि आज चाहने पर भी घर तोड़ने का हक तुम्हारे अकेले के पास नहीं है। दोनों मिलकर यह कर सकते हो, पर टूट घर बनें नहीं हैं।"

शंकर, "पर वह क्या समझेगी?"

मैं, "जो भी समझे, यह समझना आवश्यक है। तुम्हारी ओर से कुछ सुनकर समझना उससे कहीं कम भयावह और कहीं अधिक श्रेयस्कर है, जो वह अपनी खोज से जानकर समझेगी। क्या तुम उस अनिष्ट को चाहते हो?"

शंकर, 'यह भी तो सम्भव है कि मेरे सम्बन्ध में उसमें वह उपेक्षा और दुर्भावना पैदा हो जाय जो मुझ पर से उसका अंकुश ही उठा दे। निरंकुश होकर वह चलने के मार्ग में क्या रुकावट रह जायेगी।'

मैं, 'हां, यह सम्भव है। यह खतरा तुम्हें उठाना होगा। केवल तुम्हारी सत्प्रेरणा पर तुम्हारा अवलम्बन होगा। बाहरी हर किसी अंकुश के अभाव में तुम्हें निरंकुश न होना सीखना होगा। पति के सम्मान की अब तुम्हें चिन्ता है। उसे मैं कहता हूं खो दो। पति की सम्मान रक्षा मनुष्य की सम्मान रक्षा के प्रतिकूल नहीं है। और, फिर सम्मान रक्षा से बड़ी आत्म रक्षा है। सत्यरूप आत्मा की रक्षा में जो सम्मान खोया जाता है वह खोये जाने लायक है।'

शंकर, 'तो मैं यह करूं? मैं कर सकूंगा?"

मैं, 'हां, जरूर करो और जरूर कर सकोगे। और उस लड़की से मिलना बन्द न करो। छिपकर कभी न मिलो। इस प्रकार मिले बिना न रहा जाय तो कुछ चारा नहीं, किन्तु पत्नी पर प्रकट कर दो। और दिल से दूर निकालो कि वह सुन्दर नहीं है योग्य नहीं है। वह सुन्दर है और तुम्हारे आदरयोग्य है। प्रेम की अपूर्णता में से यह कदर्य भाव निकलते हैं—असुन्दर और अनादृत। सहसा अपने निकट उसे आदरहीन मत बनाओ। और, अपने को आदरहीन मत बनने दो। एक-दूसरे में श्रद्धा समादर, सम्मान का भाव रखना आरम्भ कराओगे तो वासना लुप्त होने लगेगी। अपने प्रेम को कम न करो। प्रेम धर्म है। प्रेम में मोक्ष है। बन्धन प्रेम तोड़ने में है। किन्तु प्रेम वह नहीं जिसका आधार घृणा हो, और जिसका परिणाम ग्लानि हो। क्या अपने प्रेम पात्र के सम्बन्ध में घृणा से मुक्त नहीं हो सकते? उससे मुक्त हो जाओगे तो प्रेम सात्विक होगा। और प्रेम-पात्र को घृणा करते जाना—छि कैसी लज्जाजनक बात है! बस यही तुम्हें करना है। अपने प्रेम को इतना सम्पूर्ण बना लेना है कि घृणा का अवकाश न रहे। और एक बात और है, पत्नी को पत्नी न समझो बच्चों की माता (अथवा भावी माता) समझो। अर्थात् मान रक्खो कि उसका अपना व्यक्तित्व है। तुम्हारा उतना ही अधिकार उस पर है जितने तुम उसके प्रति समर्पित हो। इस तरह उसे प्राप्त करके भी तुम उसे अपने

लिए प्राप्य बना सकते हो। उसमें कुछ न-कुछ अप्राप्य शेष रहने दो और कुछ-न कुछ अप्राप्य की झांकी उसमें पाते जाओ, तब तुम्हारा प्रेम शिथिल न होगा और कभी किसी और नये आधार की उसे चाह न होगी।"

शंकर "भाई, मैं तुम्हारी बात मानूंगा। देखूंगा।'

३

किन्तु, सरल ही कठिन है। हम जीवन को एसा बना बैठे हैं कि सर्वांतगत आत्मगत सत्य व्यवहार के लिए असगत और विदशी हो पड़ा है। छल मे से बाहर आकर जल से निकली मीन की तरह हम अपने को अशान्त, निष्प्राण, निस्सहाय अनुभव करते हैं। हमारे लिए जीवन के व्यापार छल मे रहकर ही सम्भव बनते हैं। जो निश्छल होकर रहना चाहे, हम लगता है, उसके लिए यही गति है कि वह निर्माण के ध्यान मे जगल मे जा रहे, दुनिया मे उसे जगह नही। तभी हमारी समस्याए बढती हैं, जीवन आजीवन एक उलझन बना रहता है। मौत तब समाप्ति की भांति आकर अच्छा ही करती है।

पाच रोज बाद शकर घर आया। मुह फीका था और वह दीन बना था। उसे दीन बनने की क्या आवश्यकता थी ? कमाता था, खाता था, दो आदमियो में सभ्रान्त गिना जाता था और पास गांठ की अकल भी कम नही थी। पर वही फीका, दीन प्राणी बना हुआ-सा देखा मेरे पास आ रहा है। मैंने कहा, 'कहो शकर '

बोला, 'मैंने बहुत कोशिश की। स्त्री मे पूरी-पूरी बात खुलकर किसी भांति नही कह सका। हा बहुत कुछ कह दिया है। पर, उसकी तो उदासीनता अगाध है। उसे किसी तरह का अविश्वास, या किसी तरह का विश्वास नही होता। तत्सम्बन्धी दिलचस्पी की आवश्यकता ही उसमे नही उपजती। क्या परिणाम हुआ है इसका जानते हो ? सवनाश के इतने निकट मैं खिच आया हू कि वह किसी घडी सिर पर फूट सकता है।'

मैंने कहा 'घबराओ मत "

बीच मे ही चोट खाकर वह बोला, 'घबराऊ नहीं, यह तुम कहते हो ? तुमको मालूम है, इस बीच मैंने तीन चिट्ठियां और पायी हैं, और

दो बार मुलाकात हो गयी है। मैं उन्हें नष्ट नहीं कर सका। नष्ट कर देने मे उन्हें एक क्षण लगता है। और उनके रहते देने मे हर्ज क्या था ? वे मेरा क्या बिगाड़ सकती थी ? मैंने सोचा जब चाहूंगा जला दूंगा, फिर मुझे जल्दी किस बात की है ? मैंने यह तै कर लिया और मैं उन्हें नहा जला पाया और तुम कहते हो घबराऊ नही ! तुम जानते हो, क्या ? अरे, हम इतना बढ आये हैं कि अगला कदम, और नाश। सामने और कुछ नही रह गया है और राह मे का सब-कुछ हमने तोड दिया है और हम खिंचे जा रहे हैं। कदम हम न रखें तो भी मालूम होता है, रखना होगा। मुडने का स्थान नहीं है। लंगर पीछे जाने कहा छूट गया है और आगे के नीचे आवत है जिसमे हम गिरेंगे और जो हम निगल जायगा। और तुमने कहा था, मैं मिलना बन्द न करू ? और कहते हो, मैं घबराऊ नहीं, तो बताओ क्या करू ? तुम्ही बताओगे क्योंकि तुमने ही सब-कुछ होने दिया है। मैं भाग रहा था, तुमने कहा, पीछे भागो मत सामने आगे बढ़ो। तुमने मेरे साथ यह भयकर उपहास, निठुर, क्या समझकर किया था ? मैं तुम्हारे पास आया हूँ और, जल रहा हूँ। मुझे जलाने की बात न करो। ठीक बात करो।"

कहकर वह पहले की भांति निस्तेज हो पड़ा।

मैंने कहा, "तुमने आरम्भ मे मैल जमने दिया। प्रेम स्वच्छ है। सामाजिक सदाचार की सकरी और विषम मान्यताओं मे उसका प्रवाह रुका। रुकता रहा, रुकता रहा बंधे पानी की नाई उसमे बास पैदा हो गयी। मैल जम गया। वह उन मान्यताओं के शरीर मे व्याप गया। हृदय का सेवन उसे मिला तो कसक देकर पीव बन उठी। तमाम शरीर की मलिनता उसी एक बिन्दु की ओर खिचकर संचित होती रही। फोड़ा हो गया। अब पका है मीठी मीठी चसक देता है, पीर देता है। उसके फूट जाने मे ही अब कुशल है। उसे फूटने दो। और स्वास्थ्य लाभ करो।"

शकर 'क्या विद्रूप परिहास' करते हो ! जानते हो, क्या कह रहे हो ? उसका कौमार्य खंडित हुआ तो मैं कभी स्वस्थ हो सकूंगा ? और तुम कभी अपने को और मुझे क्षमा कर सकोगे ? सम्भलकर बात करो।"

मैं—' कौन अपना कौमार्य अखण्डित चाहता है ?

शकर अत्यधिक नम्र हो आया और बोला, "विद्याधर !"

मानो मैंने उसकी आत्मा पर पांव रख दिया है। किन्तु, दैन्य मानव का क्व धर्म है ? कातरता को कुचले बिना मनुष्य के लिए जय कहां है ? मनुष्य के भीतर क्षुद्र है, वह भीरु है। विराट् उसीको पद-दलित करके खड़ा होगा और आवाहन देगा कि ओ धीर, क्लैब्य तज, दुर्बलता छोड़, धर्म पहचान और वीर बन युद्ध में खड़ा हो जा।

मैंने कहा, "तुम समझते हो कि जिसे तुम कौमार्य कहते हो उसके खंडित हो जाने पर, उस बाला के प्रति सब सम्मान मेरे हृदय में से नष्ट हो जायेगा ? तुमसे मित्रता तक तब मैं न रख सकूंगा ? नहीं, मैं ऐसा कभी नहीं हूं। इसलिए बेलाग बात कह देता हूं। तुम मुझसे सुन लो मानो चाहे न मानो, कि जो रुका है उसे मार्ग देना होगा। न दोगे, वह खुद बना लेगा। दूसरी बात भयकर होगी। तब तुम दुष्ट होकर ही दम ले पाओगे या डागी होकर जिओगे। तुम अपना अस्तित्व खोकर हठात् फिसलोगे, और बहोगे। त्राण पहले मार्ग में ही है। सत्कामना तुम्हारे भीतर है तो क्यों नहीं तुम अपनी पत्नी के चरणों में आंसू बहाकर अपने को खाली कर लेते ? नहीं तो जो वेग मन्द है ऐसा फूटकर बाहर बह आयेगा कि तुम खोखल रह जाओगे। मेरे पास तुम्हारी तरह उस अबोधा किशोरिका के हृदय का कुछ भी स्नेह और अधिकार होता, तो मैं कहता—बेटा, तुम अपने को लेकर सकट में हो। डर रही हो, क्योंकि चोरी पर लाचार हो। चलो, जिसकी चोरी करती हो उससे कह दो बहन तुम्हारे घर में सेंध लगाकर चोरी करने मैं घुस आयी हूं। अब अपने को तुम्हारे हाथों पकड़ाए दे रही हूं। तुम मेरे सम्बन्ध में आगे भी सावधान रहना।' और यह नहीं कर सकते, तो मैं कहता [redacted] जिसे नाश, सर्वनाश, महानाश कहकर डर रहे हो और डरा रहे हो, उस भूत को ऐसा समझकर देख लो कि साधारण-सा दिखायी पड़ने लगे। होनहार में से गुजरकर मन की स्थिरता सदा के लिए नष्ट मत समझ लो फिर और बना लो। जो आ ही जायेगा, उसे आ जाने दो, और आकर गुजर जाने दो—फिर सोच-सोचकर मुर्दे-सा भारी अपने को मत बनाओ। हलके होकर सचाई के मार्ग पर सहज भाव से चल

दो।"

किन्तु शंकर का दाखला नहीं हुआ। द्वन्द्व में उन्हें प्रेम था। सत्य से अभा मय था। जिस शंकर में खिंचा जा रहा है, उस दहशत दहलता था, दहशत तक का सामर्थ्य गवा बैठा था। दहशत मिटनी ही चाहिए। इसीमें विराट, भीष्म, और भयंकर के प्रति आकर्षण की अनिवार्यता है। आकर्षण का प्रयोजन दाता और समभावयुक्त निर्भीकता को सम्पन्न करता है। उसी आकर्षण के वशीभूत होकर अयुक्त उग्रता ने उससे कहा कि कभी वह विनाश की घड़ी न आने देगा। उससे पहले ही अपने को दूर कर लेगा, ओझल हो जायेगा। परस्पर सम्पन्न तक की सम्भावना को असम्भव बना लेगा। दूसरा मकान न लेगा। हो तो मिट जायगा—नहीं, यह कालिख नहीं लगने देगा।

ऐसी ही उग्र स्थिति में वह मुझसे विदा ले गया।

४

अगले सप्ताह उसका पत्र मिला।

भाई, कुछ दिनों मैं मुंह छिपाने कहीं बाहर जा रहा हूं। आत्महत्या नहीं करूंगा। सब कुछ ऐसे हो गया है कि आत्मघात सम्भव नहीं रह गया। मैं उसे समझने में समय लगाऊंगा।

अपनी श्रेणी में संगीत में प्रथम रही हैं। एक नाटक भी कन्या विद्यालय में हुआ था। अभिनय-कौशल में उन्होंने पदक पाया है। बाजा ऊपर हमेशा से अधिक बजता है। पत्र बहुत आने लगे हैं।

'बताओ मैं क्या करूं? मुझसे दुनिया का मुंह नहीं देखा जाता। दुनिया जाने कैसे हंसती है? बाजे के पास से भी कभी हंसी आती है—वह जाने कैसे हँसती है।

मैं नहीं रह सकता। हँसी सीखूंगा तब आऊंगा।

'तुम्हें यह नहीं मालूम कि पहले पत्र सबको गये। किसी ने न लिये। किसको उनकी भूख थी? लेकिन मुझे उनकी चिन्ता नहीं है। फिर भी डर है कहीं श्रीमती के पास तो नहीं पहुंच गये। पर डर व्यर्थ है। उस ओर से भी मेरे जी में चैन नहीं है। कालिख पोतकर एक दिन सोचा था कहूं कि

देखो सुनो, मैं काला हू । मैं तुम्हें सब सुनाकर अच्छी तरह बताता हू कि मैं कितना काला हू । तब मन मे कुछ ज्योति सी जगी थी । पर जगी नही कि बुझ गयी । ऐसी जमी उपेक्षा से उसने मुझे लिया कि मैं काठ हो रहा । मन की आग भीतर राख ओढकर रह गयी । वह मानो कहना चाहती थी— तुम कुछ हो—मैं नही मागती । मुझे रहने दो, मरने दो । अरे छोडो, मरने तो चुपचाप मुझे दो ।'

'सो मैं जा रहा हू । तुम्हे याद कर सकने की आशा चाहता हू ।

—तुम्हारा —शकर ।"

५

मैं तो सब-कुछ भूल जाता, क्योकि छह महीने का काल पर्याप्त होता है कि अचानक शकर का कार्ड मिला । लिखा था—

" मैं लौट रहा हू । किसी अजान हितैषी ने लिखा, पत्नी विपथगा है । मुझे भूल जाने की सुविधा चाहती हैं छुट्टी चाहती हैं । मैं लौट रहा हू कि कहू—तुम्हे पूरी छुट्टी है, सब हक है । किन्तु मुझे अपना अनन्य सेवक बना रहने दो जो कुछ न कहेगा ।

" पर विवाह भी सुना है । उनके चरण छूने की साध भी मिटाना चाहता हू । तुमसे मिलूगा । —शकर ।"

और उसी दिन एक और भी पत्र मिला—

"श्रीमन,

आपको पत्र लिखता हू, क्योकि आप बाबू शकरदयाल जी के मित्र हैं, और मैं शकरदयालजी के प्रति अपराधी हू । उन्हें सीधे लिखने का साहस मुझ मे नही है । आपने मुझे देखा है । क्या उस कुरूप, कुचाल, मले, अधपढ और कम सुननेवाले बालक को भी आप याद कर सकते हैं, जो जब आप बाबू शकरदयालजी के यहा पधारा करते थे, वाचाल होकर अपनी दो चार पक्तिया हठात् आपको सुना दिया करता था ? आप कह देते थे, 'अच्छी हैं' और वह सोचता था, क्या यह कृपा करके कहते हैं 'अच्छी हैं,' क्या नही खुलकर कह देते कि किसी काम की नही हैं जैसे कि अपने मित्र से कह देते होगे । क्या मैं इनकी कृपा का पात्र हू, और क्या मैं इनकी मित्रता बराबरी का पात्र नही हू ? और उसी समय बाबू शकरदयाल कहते,

अच्छी है ? सुन लिया न ?—अब चलो, अपना काम करो। यह पासल सिओ।' मैं पासल सीने लगता था, क्योंकि मुझे चालीसवें रोज बारह रुपये मिलते थे। और कविता को मोड़कर अण्टी में छिपा लेता था, क्योंकि पार्सल घर अभी जाना होगा, और कविता जब आप फिर आयेंगे तभी जाकर सुनानी होगी। अब आपको याद आ गया होगा। उसीने बाबू शंकरदयालजी के नाम के कुछ प्रेम-पत्र चुराये और वही मैं हूं। शुरू में इच्छा थी कि जानूं किमन लिखे हैं। पर अब वैसी उत्सुकता नहीं है। अब तो मैं यह मान कर रह रहा हूं कि ये मेरे प्रति लिखे गये हैं और जिसने लिखे हैं वह मेरी रानी है। यह पत्र आपको मैं इसलिए लिख रहा हूं कि मैं अपराध की क्षमा चाहता हूं और कि आप मुझे विश्वास दिला सकें, ये पत्र अब मुझसे न छिनेंगे। मेरा वह सर्वस्व हैं और उनके कारण किसी का अहित न होगा। बाबू शंकरदयालजी चाहें ही तो उनकी प्रतिलिपि मैं अपने हाथ से बहुत सुन्दर अक्षरों में करके, उन्हें भेज सकता हूं। किन्तु वह सम्पन्न हैं, एसे जितने पत्र चाहें उन्हें मिल सकते हैं। मुझे आप हो सोचें कौन पूछता है। चोरी का पाप उठाकर जो मैंने पाये हैं, और जिन्हें निरन्तर इन छह महीनों के पाठ से मैंने अपना बना लिया है और जो मेरी रानी के हाथ के हैं—और जिनमें वह मेरी कभी मुझे हँसती, कभी रोती, कभी मुझे चूमती दर्शन देती है—आपका चिरायु कृतज्ञ रहूगा, वह पत्र मेरे पास रहने देने की उनसे आज्ञा ले लें—आपका भगवान भला करेगा।'

जी मुझसे यह मत पूछियेगा मैंने क्या चुराये। कुछ होता है जो हो जाता है कारण काय का भाव जोड़कर उसे किसी तरह बताया नहीं जा सकता। बाबू शंकरदयालजी अकेले में एक दिन एक पत्र पढ़ रहे थे। मेरा काम से कमरे में जाना हुआ तो उन्होंने जल्दी में उसे कापी में कर लिया। मुझसे क्या डर था ? पर वस्तु ही ऐसी मर्म के भीतर छिपाकर रखने की होगी। उस दिन पाच-छह बार मुझे उस कमरे में जाना पड़ा। हर बार मैंने उन्हें कुछ कापी में छिपाते हुए पाया। जी, मैं तेईस बरस का हूं। बारह बरस की उमर से परदेश में और परदेशियों के बीच में अकेला रहा हूं। किसीने मुझे नहीं पूछा और मैं पूछे जाने के लिए तरसता रहा। जी जो हरएक में होता है। मैं सोचता हू, क्या होता है ? विधाता क्या हमें बिना

उसके नही मना देता, कि हम दद मिटा नही सकते, तो उसे अनुभव किये बिना तो रहे। जब साझ डूबती होती थी, और सडक की बत्तिया जल जाती, और निक काम से चैन पाकर मैं ऊपर देखता, ऊपर तारे निकलते होते, और बाहर लोग खुश-खुश इधर से आ रहे होते और उधर चले जा रहे होते, और उनमे स्त्रिया भी होती, स्त्रिया ! जिन्हे रोज ऐसे देखता जैसे सपने देखता हू, जिनमे स्पश नहीं, सौरभ है, वह भी आते है या नही, और देखता, वे स्वच्छ हैं मैं मैला हू, वे मिल जुलकर आ-जा और हँस-बोल रही हैं और मैं अकेला हू, इन अनगिनत तारो के नीचे और असख्य जानो के बीच मे मैं एक हू अकेला हू, तब होता, मैं क्या अकेला हू ? जी मे होता क्यो नही मेरे पास भी कुछ है, जिसे झट दौडकर खुशी की बत्ती की रोशनी मे मैं खोल देखू, जिसे दूसरो की आखो से बार बार मैं भी छिपाऊ और अपनी आखो के लिए बार-बार प्रगट करू, सदा अपनी भीतरी जाकिट की उस जेब मे रखू जिसके नीचे छाती हर घडी धुक् धुक् करती है, और अकेला होऊ कि पढ लिया करू। जो ऐसी ही कल्पनाओ को लेकर रोया करता था। सो जब बाबूजी को देखा मन एक सकल्प से भर-सा आया। मैं चोरी कभी कर सकता था ? पर यह चोरी मुझे चोरी नही लगी। पन्द्रह दिन उसमे लगाये। किन्तु चित दुखता ही रहा, और आज, जी, मैं लिख रहा हू और माफी माग रहा हू। आप सब लोग मुझे माफ कर दें। मेरा प्रणाम।"

विनयावनत—रामदीन

६

दोनो पत्र मैंने पाये, और सोचा, सब ठीक है। अब सब ठीक है। इसलिए तब सब ठीक था।

ग्रामोफोन का रिकार्ड

वह अन्त मे पलग पर उठ बैठी। अलस बैठी अंगड़ाई ली और बालों पर हाथ फेरने लगी। साडी का उसे पता न था और बाल अस्त व्यस्त थे। उठी उठकर बड़े आईने के सामने गयी, बाल ठीक किय, अपने से हरपाई खिलखिलाई, फिर अगडाई ली और लौटकर वह पलग की पट्टी पर आ बैठी।

दुपहरी का वक्त है कमरा तीसरी मंजिल पर है। वहा से बाजार भी दीखता है जहा सदा चहल पहल रहती है। कमरा सब तरह से आराम से भरा है। इस कमरे मे बैठी-बैठी वह एक घड़ी बिताती है और यह सोच कर उस घन पश्ना ह कि चलो यह बीती। लेकिन फिर आगे आता हुई घड़ी की ओर देखकर सोचती है, अब ?

रमणी की अवस्था बीस-बाईस से अधिक नहीं है। पति एक मिल मे सेक्रेटरी है। अच्छे सम्पन्न हैं, अच्छे शिक्षित सभ्य, सुन्दर और स्नेहशील। एक दूसरी मिल खड़ी करने की बातें चल रही है, उसमे बहुत व्यस्त रहते है। कोई बाल-बच्चा नहीं है और यह रमणी ग्यारह बारह बजते सब खाने-पीने से निबटकर यहा अपने इस कमरे मे आ जाती है और नहीं जानती क्या करे क्या न करे।

सोना चाहती है और कभी नींद भी आ जाती है। आ जाती है तब तो ठीक जब नींद नहीं आती तब वक्त सिर पर बेहद भारी हो जाता है। कोई सखी सहेली आ जाय तो क्या बात नहीं तो यह सामान न भरे इस कमरे मे अनमनी डोलती हुई सूनी घड़िया न निबटने का अकेली रह जाती है और नाम पाता है। तब, न हुआ तो कभी हारमोनियम खोलकर कुछ देर उस पर उंगुली चला लेती है कभी ग्रामोफोन को बजाती है कभी आलमारी से उपन्यास खींचकर पढ़ने लगती है, नहीं तो किसी नौकर

चाकर को बुलाकर उसी से इधर-उधर की बातें करती है।

उसके मन में प्रतीक्षा भरी बैठी रहती है। उस प्रतीक्षा में वह चिहुक-चिहुक पड़ती है, अब वह आ जायें ना? अब वह आ जायें तो? यह नहीं कि स्वामी दोपहर को कभी घर आ नहीं सकते। किन्तु वह कामकाजी आदमी हैं और अनियमितता कहीं भी उन्हें पसन्द नहीं है। सब काम का समय होना चाहिए और तरीका होना चाहिए। प्रेम के लिए क्या व्यक्ति अनियन्त्रित बने?

वह आते तो कहते "कहो डियर, वह किताब तुमने पढ़ी? अच्छी लगी?"

पत्नी कहती, "हां, अच्छी लगी।

"हां, किताब वह अच्छी है। बस, ऐसे ही अंग्रेजी आ जायेगी अच्छा बसन्तिया को बुलाओ तो, कहो तश्तरियां ले आये।"

वह बसन्तिया को बुला देती और तश्तरियां आ जातीं। नाश्ता हो जाता और इसी तरह दस पन्द्रह मिनट निकालकर मिस्टर कपूर कहते, "अच्छा डियर, तो मुझे चलने दो।" और वह चले जाते।

उनके चले जाने पर वह उठती। जिस किताब को उन्होंने कहा होता उसे खींचकर बिस्तर पर औंधी पटक देती, और कमरे में इधर-उधर टहलती। अन्त में पलंग पर गिरकर दो चार पन्ने उस किताब के पढ़ने की भी चेष्टा करती।

उनके मन का थिरता नहीं थी। वह अपने को कहां पावे? उस मन के भीतर पढ़ाई भी है और प्रेम भी है। लेकिन वह अपने को जैसे अस्वीकृत पाता है। किसने उसे चाहा या लिया है? जिसके लिए उसका वह मन रहता है तीनों लोकों में जो उसका अधीश्वर है वह आदमी तो एकदम उसे सोने में और गर्व में डुबो देना चाहता है—वह उसे ऐसा प्यार करता है। पर क्या वह इसके योग्य है? क्या वह इतने सयत और समठ प्रेम को झेल सकती है जो उसे आलिङ्गन न देकर आभूषण देता है? वह इसीसे अपने को निराभरण निरनवृता, पूजा की सामग्री की भांति शुचि-उज्ज्वल और धूप शिखा की भांति श्यामल रखती है कि वह प्रभु पर अर्पित हो और स्वीकृत हो। उसके मन में अव्याहत, अलक्षित कुछ उठता रहता है,

जो मानो काला बादल-सा घुमड़ता है—बरसता नहीं। जो एकीकृत हो राग नहीं बन पाता, न संगीत, और जो बिखरा-ही बिखरा लय हो जाता है। वह अपने कमरे में भीतर-ही भीतर घूमती है, अपने हृदय में व्यथा-भार को लेकर कि क्या करे क्या करे?

जब नदी जलवती होती है और लता फलवती, तब क्या उनमें उनके हृदय का समस्त रस भर-भर उमड़ नहीं आता है? स्त्री में माता होने में ही स्त्रीत्व की क्या सम्पूर्ण कृतार्थता और संतृप्ति नहीं है? किसलिए स्त्री उमगती है, सजाती है, बढ़ती है? और मांगता हुआ पुरुष क्या उसमें खिंचा चला आता है? क्या यही नहीं कि उस खिंचाव में वह अपना स्वत्व-दान करता है, धन्य लाभ करता है?

ओह! वह श्रीमती कपूर एक अनिर्दिष्ट अभाव को भीतर लेकर दुपहरी की घड़ियों में निरानन्द अपने कमरे में सो-जागकर और उठ-उठकर सोचती है—वह क्या करे? अरे वह क्या करे? उसे कुछ करना नहीं है। सब काम करती है पर मानो वे उसके करणीय कर्म ही नहीं हैं। वे उसे तनिक भी नहीं भरते। उनको करके जैसे वह अपना उद्दिष्ट कर्म का तनिक भी पता नहीं कर पाती। उद्दिष्ट कर्म? इस विश्व की योजना में क्या कर्म उसका उद्दिष्ट है, क्या उसका इष्ट है? किस अन्तिम पथ के लिए वह यहाँ है? वह यह कुछ नहीं जानती। लेकिन भीतर का समस्त प्राणरस जिसकी ओर कम्पित हुआ उन्मुख बढ़ा है क्या वही उसका परम कर्म [illegible] है? वहीं उसकी सिद्धि और वही उसके लिए [illegible] उसके [illegible] परम अर्थ की अपेक्षा हो सकता है?

किन्तु वह इस भारी [illegible] को कैसे सम्पन्न करे? अरे कैसे? वह क्या करे?

घूम घूमकर गाना शुरू करता है—

सैंया तोरी गोदी मे गेंदा बन जाऊगी। सैंया०
जब मेरे सैंया को प्यास लगेगी,
गगा-जमुना, तिरवेनी जब जाऊगी। सैया०
जब मेरे सैंया को भूख लगेगी,
पूरी, कचौरी, जलेबी बन जाऊगी। सैंया०

वह आख बन्द किये इस राग के पङ्खो पर बैठी, हिंडोले में झूलती, निराली, उस देश में पहुच जाती है, जहा सोना और सामान नहीं है और वह बस सैया की गोद मे फूली फूली गेंदा बनी पडी है, मुड-मुडकर बस रसभरी जलेबी-सी सया की आखो के आगे बिछी है। हा, वह क्या नही रस धार में खीचकर सबका सब डुबो लेगी, पूरी तरह अपने में ले लेगी। और गीत चलता ही जाता है—

सैंया तोरी गोदी मे०
जब मेरे सैंया को निंदिया लगेगी,
तोशक, तकिया और गद्दा बन जाऊगी।

अब वे सैया आय तो वह कहेगी—देखो तुम अच्छी तरह गोदी बना कर बैठो। मैं अभी तुम्हारी गोदी मे गेंदा बनकर दिखाती हू। देखो, ऐसे, और ऐसे मैं गेंदा बन जाऊगी। और मैं तिवणी भी बनूगी, और मैं जलेबी भी बनूगी। सैंया, मैं तुम्हारे लिए सभी कुछ बन जाऊगी। तुम कुछ मत करो बस देखने ही रहो मैं कैसे-कैसे क्या-क्या बनती हू।

इसी तरह के भाव मे मग्न थी, तभी उसी ओर आते हुए स्वामी के पैरो की आहट उसने पायी। झट ग्रामोफोन बन्द किया और झपटकर चादर से वह पलग पर आ लेटी। लेटकर धीमे-धीमे खर्राटे लेने लगी। सोचती जाती थी—मेरी चादर हटाकर वह कहेंगे ओ विजी, सोती हो?

मैं करवट लेकर कहूगी, "ऊ—ऊ—ऊ।'

वह कहेंगे, "अजी विजया महारानी, उठो।"

मैं कहूगी, 'हटो जी हमे मत छेडो, हा—तो। हमे नींद आ रही है।"

जो काला-काला बादल-सा घुमड़ता है—बरसता नहीं। जो एकीकृत हो राग नहीं बन पाता, न संगीत, और जो बिखरा-ही बिखरा लय हो जाता है। वह अपने कमरे के भीतर ही भीतर घूमती है, अपने हृदय के व्यथा-भार को लेकर कि क्या करे, क्या करे ?

जब नदी जलवती होती है और लता फलवती, तब क्या उनमें उनके हृदय का समस्त रस भर-भर कर उमड़ नहीं आता है ? स्त्री के माता होने में ही स्त्रीत्व की क्या सम्पूर्ण कृतार्थता और सन्तृप्ति नहीं है ? किसलिए स्त्री उमगती है, लजाती है, बढ़ती है ? और भागता हुआ पुरुष क्या उसमें खिंचा चला आता है ? क्या यही नहीं कि उस विश्वात्मा में अपना स्वत्व-दान करना है, फल दान करना है ?

जो हो, यह श्रीमती कपूर एक अनिर्दिष्ट अभाव को भीतर लेकर दुपहरी की घड़ियां में निरानन्द अपने कमरे में सो-सोकर और उठ उठकर सोचती है—वह क्या करे ? अरे, वह क्या करे ? उसे कुछ करना नहीं है। सब काम करती है, पर मानो वे उसके करणीय कर्म ही नहीं है। वे उसे तनिक भी नहीं भरते। उनको करके जैसे वह अपने उद्दिष्ट कर्म का तनिक भी अंश नहीं भर पाती। उद्दिष्ट कर्म ? इस विश्व की योजना में क्या कर्म उसका उद्दिष्ट है, क्या उससे इष्ट है ? किस अन्तिम फल के लिए वह यहां है ? वह यह कुछ नहीं जानती। लेकिन भीतर का समस्त प्राणरस जिसकी ओर कण्टकित हुआ उन्मुख बैठा है, क्या वही उसका परम कर्म नहीं है ? वही उसकी सिद्धि और वही उसके लिए धर्म नहीं है। उसके किस अन्य परम अर्थ की अपेक्षा हो सकती है ?

किन्तु वह इस अपनी परमाकांक्षा, परम सार्थकता, परम सफलता को कैसे सम्पन्न पाये ? अरे कैसे ? वह क्या करे ? कोई बताओ, वह क्या करे ?

२

उसे एक रिकॉर्ड बहुत ही मन भा गया है। दूसरे के यहां वह रिकार्ड उसने पहले-पहल बजते हुए सुना था। वह जैसे उसके मन की बात को छीनकर ही बना हो। वही वह बजाती है, वही सुनती है, वही गुनगुनाती है। रिकार्ड मशीन पर बैठ जाता है, वह आंखें मूंद लेती है और रिकार्ड

घूम घूमकर गाना शुरू करता है—

सैंया तोरी गोदी में गेंदा बन जाऊंगी। सैंया०
जब मेरे सैंया को प्यास लगेगी,
गंगा-जमुना तिरबेनी जब जाऊंगी। सैंया०
जब मेरे सैंया को भूख लगेगी,
पूरी, कचौरी, जलेबी बन जाऊंगी। सैंया०

वह आंख बन्द किये इस राग के पङ्खों पर बैठी, हिंडोले में झूलती, निराले, उस देश में पहुंच जाती है, जहां सोना और सामान नहीं है और वह बस सैंया की गोद में फूली-फूली गेंदा बनी पड़ी है, मुड़-मुड़कर बस रसभरी जलेबी-सी सैंया की आंखों में आग बिछी है। हां, वह क्या नहीं 'रस धार में खींचकर सबका-सब डुबा लेगी, पूरी तरह अपने में ले लेगी। और गीत चलता ही जाता है—

सैंया तोरी गोदी में०
जब मेरे सैंया को निंदिया लगेगी,
तोशक, तकिया और गद्दा बन जाऊंगी।

अब वे सया आये तो वह कहेगी—देखो तुम अच्छी तरह गोदी बना कर बैठो। मैं अभी तुम्हारी गोदी में गेंदा बनकर दिखाती हूं। देखो, ऐसे, और ऐसे मैं गेंदा बन जाऊंगी। और मैं त्रिवेणी भी बनूंगी, और मैं जलेबी भी बनूंगी। सैंया, मैं तुम्हारे लिए सभी कुछ बन जाऊंगी। तुम कुछ मत करो बस देखते ही रहो मैं कैसे-कैसे क्या-क्या बनती हूं।

इसी तरह के भाव में मग्न थी, तभी उसी ओर आते हुए स्वामी के पैरों की आहट उसने पायी। झट ग्रामोफोन बन्द किया और झपटकर चादर ले वह पलंग पर आ लेटी। लेटकर धीमे धीमे खर्राटे लेने लगी। सोचती जाती थी—मेरी चादर हटाकर वह कहेंगे' ओ विजी, सोती हो?'

मैं करवट लेकर कहूंगी, "ऊ—ऊं—ऊं।"

वह कहेंगे, "अजी विजया महारानी, उठो।'

मैं कहूंगी, हटो जी हमें मत छेड़ो, हां—तो। हमें नींद आ रही है।'

वह उठायेंगे—मैं नहीं उठूगी, नहीं उठूगी, नहीं उठूगी।

मिस्टर कपूर कमरे में आ गये। विजया के कान सुनते रहे—गये आ गये। वे कान चौकन्ने हो रहे कि देखते रहो, वह क्या करते हैं और वह खर्राटे भी भर रही थी।

उन्होंने आकर आलमारी की चाबी टटोली। यहां देखी, वहां देखी नहीं मिली तब तकिये के नीचे देखना चाहा। तकिये के नीचे हाथ डा कि विजया ने करवट ली, किया—'ऊं—ऊं—।' अर्थात्—'हां, मैं सो हूं। लेकिन अजी, तुम बेखटके मुझे जगाकर देखो। सच, मुझे ज लो।'

तकिये के नीचे से उन्होंने जल्दी से हाथ खींच लिया और चिन्ता कि विजया की नींद न उचट जाय। उसके बाद चाबी इधर उधर देखें इसीमें एक तश्तरी झन्न से फर्श पर गिरी।

विजया ने नींद से चौंककर कहा, 'क्या है?'

'ओ डियर, कोई बात नहीं। माफ करना। मैं तुम्हें जगाना न चाहता था। आलमारी की चाबी कहां है?'

'हमें नहीं मालूम। हां—तो दुपहरी में भी हमें चैन नहीं है। कहा और विजया मुंह फेरकर और उस पर चादर लेकर फिर सो गयी

इस समय उसका मन रोने का आ गया। उसे बिलकुल पता न थ कि यही सैंया हैं जिसकी गोद में वह गेंदा भी बन ले जलेबी भी बन या और जो चाहे बन ले। समस्त विश्व में इस एक आदमी ही की गोद उसके लिए सब बनने की छुट्टी है। वह सोचने लगी कि यह आदमी क्यों नहीं अपना काम झटपट खतम करके यहां से दूर हो जाता।

किन्तु चाबी का गुच्छा जल्दी नहीं मिला और दो एक मिनट होने विजया को फिर हठात धीमे धीमे खर्राटे भरना शुरू कर देना पड़ा।

अन्त में चाबी मिल गयी और आलमारी में से चैक-बुक निकाल म डालकर मिस्टर कपूर चलने को हुए। उस समय वह एक क्षण रुके अ सोचने लगे— इसकी नींद को मैंने व्यर्थ ही तोड़ा। अब क्या मैं उसके लि इससे क्षमा की प्रार्थना न करता चलूं।

विजया को पता था, वह सिरहाने ठिठके खड़े हैं। उसने मानो गह

नीद मे करवट ली। इससे भग के काफी भाग पर मे चादर वेखबर हट गयी।

'क्या विजया की असावधानी मे उसका अगदर्शन नीतिगत है? नही नही।' उस समय इस प्रकार सोचते हुए मिस्टर कपूर दवे मन, दवे पाव, कि आहट न हो, बाहर चले गये।

वह गये। विजया उठी और नीचे पैर लटका कर पलग की पट्टी पर बैठ गयी। हाथ देकर उसने बाल सम्हाले। अगडाई ली और आइने के सामने खड़ी होकर अपने को देखने लगी। देखती रही। उसने कोसा कि क्या उसका सौन्दर्य उस पर से अब तक तनिक ढलकर नही गया है। यह कम्बख्त किस निमित्त वहा वैसा का वैसा ही अड़ा खड़ा है, जबकि उसका कोई हेतु नही है, उसकी माग नही है। उसने चाहा कि वह कुछ अपरूप क्यों न हुई? विकृताग क्यों न हुई? तब वह पा तो सकती कि वह क्या अस्वीकृता है। कुछ होता तो उसके पास जो स्वय सब दोष का भागी बन कर उसे चैन से रखता। अब चारा ओर से प्रकाशित इस रूप को लेकर क्या वह वञ्चिता, अभागिनी अपने अभाग्य का दोष अपने पति पर डाले?

तभी वह सहसा मुड़कर निश्चयपूर्वक कहती है "नही, नही ।" और गुनगुनाती है, 'सैया की गोदी म ।"

३

समय अलसाया जा रहा था। वह घूमी, टहली, बालो मे कघी की, साड़ी बदली, किताब पढी, यह किया वह किया और फिर सिर पर समय को वैसा ही भरा खड़ा पाकर ग्रामोफान के पास आ बैठी। ग्रामोफोन ने गाना आरम्भ किया—

सया तोरी गोदी म ।
जब मोरे सया को

उसकी आँखें मुद गयी और गायन एक स्वर चढा—

अरे भूख लगगी,
बर्फी पेड़ा, गुलाबजामुन बन जाऊगी।
सैंया तोरी

इस गीत में उसका आधार है, इसमें बल है। इसके स्वरों में जैसे यह चाशनी सी घुल जाती है। उसके भीतर की रिक्तता में से यह गीत आकूल आप्लावन ला देता है और हृदय के किनारे तक डूबने डूबने को हो जाते हैं। तब मानो दुःख का बोध लीन हो जाता है और सुख की चाह के लिए भी अवकाश नहीं रहता। यह मिठास और कड़वाहट के स्वाद से एकदम भिन्न प्रकार की निमग्नता यह अपने उच्छलित प्रेम के बल से अपने लिए सृष्ट कर लेती है और आप ही उसमें डूबती उतराती है।

फोन की चूड़ी नाच-नाचकर कह रही थी—

गेंदा बन जाऊंगी सैंया की गोदी में

बैरिस्टर मनमोहन इस अक्षुण्ण, अतरंगित, दीपशिखा पर हैरान थे। वह शलभ न थे पर झुलस उनको भी लगती थी। यह अपने ही स्नेह को प्रति क्षण पान करती हुई प्रदीप शिखा की भांति प्रकाश बिखेरती हुई निष्कम्प, ऊर्जस्वित, अरक्षणीया, अकेली खड़ी है, इस पर उन्हें विस्मय था। मन की पीड़ा भी थी। यह तो न वक्र होती है न व्यथ होती है। अपने-आप में धन्य नहीं है जल रही है यह भी उसके प्रदीप्त मुख पर कहीं प्रकट नहीं होता। बैरिस्टर मनमोहन सद्विचारशील और सद्भावनाशील और सहृदय व्यक्ति हैं। वह किसी के प्रति अप्रस्तुत नहीं हैं। किन्तु—

किन्तु यह नारी, यह विजया, मनमोहन की सद्भावना को क्या कभी निमन्त्रण दे सकी है? क्या कभी इस नारी ने अपने अत्यन्त भीतरी क्षत को उनकी सहानुभूति का तनिक भी स्पर्श, तनिक भी सेंक लगने दिया है? नहीं, यह अपने व्रण को भीतर ही-भीतर अतिशय सुरक्षित, सेव्य, अति गोपनीय और अस्पृश्य बनाये है। इसलिए विजया को कोई अड़चन नहीं है कि मनमोहन उसका मित्र हो, वह आये-जाये, मिले जुले और वे दोनों हँसे-बोलें।

मनमोहन ने सामने जीवन में पहली बार यह खुलेपन की अनुल्लंघनीय बाधा पायी है। जहां कुछ छिपाव हो, दुराव हो, आंख जहां जरा नीचे भी होती हो, वहां मनमोहन निःशंक है। किंतु जहां आरम्भ से ही निःशंकित व्यवहार है और हँसी में निर्व्याज उल्लास, और जहां सकोच का निर

अभाव है वहा मनमोहन जसे निरस्त है। वहा मनमोहन को ढाने के लिए जैसे कोई प्रनिबन्ध ही नही ह। और भीतर से वासना और प्रेरणा को उमगा कर लाने के लिए जैसे मनमोहन के लिए बाहर किसी तरह की चुनौती कोई अवरोध काई वहाना ही नही पाता है।

मनमोहन का इस घर मे खुला आना जाना है। और सच ही विजया की तबीयत भी उससे कम नही वहलती। विजया के भीतर एक तरह की इच्छा मुलगी सी भी रहती है कि मनमोहन आये। वह आदमी को दवता नही मानती, न अपने को देवी समझती है। मनमोहन के वारे म भी उसकी आखें झपी नही है। लेकिन अपने को बिना खोये जो वह पाती है उस पाने का रस उस अच्छा ही लगता है। मनमोहन की वत्ति की ओर से पूणयता निदवरत न होत हुए भी उसको प्रीतिकर लगता है कि वह आय और उनकी उपस्थिति के लिए विजया उसकी कृतज्ञ ही है।

चूडी चल रही थी, ' सैया की गोदी मे गेंदा बन जाऊगी ।"

विजया मौन, मूक, निस्पन्द, घुली सी जाती हुई बैठी थी।

मनमोहन के आने का उसे पता चला। उसकी आख आधी खुली और अनायास उसने कहा "आओ।"

मनमोहन वेलाग आकर आराम कुर्सी पर बैठ गया। उसने कभी पहले य आखें ऐसी आधी खुली न दखी थी। उसका मन एक साथ ही जैसे फुहार के नीचे आकर भीज सा उठा। अनाहूत आकाक्षाए जैसे आप-ही-आप जग आयी और जैसे पल छिन म ही बिना बीज के उग आकर एकदम पल्लवित और पुष्पित हो गयी। और मानो उन्हे अब अधिकारत फल की भी माग हो आयी। जिनका स्वप्न मे भी अगीकरण न किया था, वे ही आकाक्षाए एकदम पूण यौवन म हुलसित मनमोहन के भीतर लहलहा आयी।

उसने कहा "भाभी, बडा अच्छा रिकाड है।"

विजया निर्वोध मुस्करायी, जसे कहा, ' है न अच्छा !'

जिसकी गोद मे उसे गगा, जमुना, त्रिवेणी होकर बहना है वही तो है, उससे शेष होकर और क्या है? उस जसे लग रहा है—'मनुष्य वस वही है। ससार वही है। आकाक्ष्य वही है। और आकाक्ष्य जो है, 'सैयां' छोड

वह और क्या हो सकता है? उसे सब-कुछ अपने सैंयामय-सा ही लग रहा है।

मनमोहन ने अपनी कुर्सी आगे बढ़ाकर धीरे से अपने एक हाथ में उसका एक हाथ थाम लिया। विजया ने कृतज्ञ भाव से उसकी ओर देखा और मुग्ध कानों से सुना—

"सैंया तोरी गोदी में ..."—

मनमोहन के शरीर में सिहरन की लहर आयी शरीर में कांटे उठने लगे। उसने कहा 'भाभी, भाभी!' और अपने हाथ में पड़े हुए इच्छा-शून्य कोमल हाथ को जोर से दबाया।

विजया उसी द्रवीभूत भाव से भरी, अधखुली और अधमुंदी आंखों से मनमोहन को बस देखकर रह गयी। मानो वह उस और अपने को कहना चाह रही है ... सैंया की गोदी में, देखो, मैं इस भांति गेंदा बन जाऊंगी।"

मनमोहन का वेग अपने पर से उठता गया। उसने भराये कण्ठ से कहा "भाभी, भाभी!" और एकदम उठकर पलंग पर बैठकर भाभी को उसने अंक में भर लिया। बोला, 'ओ मेरी पगली रानी भाभी!'

विजया ने पाया—सैंया की गोदी में पड़कर पखुरियां में सजे गेंदे और रस से भरी जलेबी, और त्रिवेणी और गङ्गा-स्तोशक, सबके बनने का समय उसका अब आना है! वह नितान्त अवश उसकी गोद में बिखरी-बिखरी हो पड़ी।

वहां उस गोद में लेटी वह पानी पानी होकर बह जायगी। मनमोहन ने उसे बटोरकर अत्यन्त मोहाविष्ट हो जोर से उसका चुम्बन लिया। लिया कि उसी क्षण पास रखी मेज पर से टाइम पीस झननन करती हुई नीचे आ पड़ी। यह आवाज मोहपटल को चीरती हुई विजया के भीतर तक पहुंच गयी। वह चौंकी, उठी और—भौंचक रह गयी! सुन, वह खड़ी की खड़ी ही रही। उसने मनमोहन को देखा, मानो उस देखन में दृष्टि न थी। मनमोहन उसी की तरफ देख रहा था।

विजया के मुंह से निकला, 'तुम! तुम!!'

मनमोहन के चेहरे पर एक, विस्मय लिख गया।

विजया आगे कुछ न कह सकी, माथा पकड़कर एकदम धम से फर्श पर बैठ गयी और धरती देखती हुई रोने लगी।

मनमोहन ने पास आकर, बैठकर, कंधे पर हाथ रखकर कहा, "भाभी! विजया! क्या बात है?"

अपने हाथों से उसे अलग हटाते हुए विजया ने कहा, "हाथ जोड़ती हूं, तुम जाओ। चले जाओ, अभी चले जाओ।"

मनमोहन ने कहा, "क्या है?"

"हाथ जोड़ती हू, हा हा खाती हू, तुम अभी चले जाओ। देखो, तुम्हारे पैरों पड़ती हू।" और उसने मनमोहन के पैरों की ओर अपने हाथ बढ़ाये।

मनमोहन खो गया। उसको कुछ भी सूझा नहीं। वह पत्थर की मूरत बना वहा खड़ा ही रह गया। उसने सुना—

'चले जाओ। नहीं तो पटककर मैं अपना सिर यहीं फोड़ डालूगी।" सुनकर मनमोहन का अपने पर कुछ भी वश न रहा। मुह झुकाये वह चुपचाप चला गया।

४

जब शाम को स्वामी आये, विजया ने गुस्से से कहा, "नहीं, यह झूठ है कि तुम मुझे प्रेम करते हो। तुम मुझे प्रेम नहीं करते। मुझे अपने घर भेज दो। मैं वहीं रहूगी, वहीं रहूगी।'

स्वामी ने कहा, 'तो चली जाना, पर ऐसी क्या बात हुई?'

"नहीं, मुझे तुम्हारा प्रेम नहीं चाहिए। मैं तुमसे नहीं बोलूगी। मैं अंग्रेजी नहीं जानती इसी से तो—मैंने तुम्हें देख लिया।"

आशय कि विजया अपने सैंया को छोड़ कुछ दिन के लिए चली ही गयी। और पति तर्क पूर्वक भली भांति कायल हुए बिना न रह सके कि अन्याय उन्हीं का है, और वह पात्र हैं कि विजया उनसे न बोले।



जाह्नवी

आज तीसरा रोज है।—तीसरा नहीं, चौथा रोज है। वह इतवार की छुट्टी का दिन था। सवेरे उठा और कमरे से बाहर की ओर झाका तो देखता हूं, मुहल्ले के एक मकान की छत पर कांओ कांओ करते हुए कौओ से घिरा हुई एक लडकी खडी है। खडी-खडी बुला रही है "कौओ आओ कौओ आओ।" कौए बहुत काफी आ चुके हैं पर और भी आते जाते हैं। वे छत की मुडेर पर बैठ अधीरता से पख हिला हिलाकर बेहद शोर मचा रहे हैं। फिर भी उन कौआ की सख्या से लडकी का मन जस भरा नही है। बुला ही रही है कौआ आओ कौओ आओ।"

देखते देखते छत की मुडेर कौआ से बिल्कुल काली पड गयी। उनम से कुछ अब उड उडकर उस की धोती से जा टकराने लगे। कौओ के खूब आ घिरने पर लडकी मानो उन आमन्त्रित अतिथियो के प्रति गाने लगी—

काग़ा चुन चुन खाइयो ।'

गान के साथ उसने अपने हाथ की रोटियो म से तोड तोडकर नन्हे नन्हें टुकडे भी चारो ओर फेंकने शुरू किये। गाती जाती थी। 'कागा चुन-चुन खाइयो । वह मग्न मालूम होती थी और अनायास उसकी देह थिरक कर नाच-सी आती थी। कौए चुन चुन खा रहे थे और वह गा रही थी—

'कागा चुन चुन खाइयो ।'

आगे वह क्या गाती है कौओ की काव-काव और उनके पखो की फडफडाहट के मारे साफ सुनाई न दिया। कौए लपक-लपक कर मानो छूटने से पहले उसके हाथो से टुकडा छीन ले रहे थे। वे लडकी के चारो ओर ऐसे छा रहे थे मानो वे प्रेम से उसको ही खाने को उद्यत हो। और लडकी कभी इधर कभी उधर झुककर घूमती हुई ऐसे लीन भाव से गा रही

थी कि जाने क्या मिल रहा हो।

रोटी समाप्त होने लगी। कौए भी यह समझ गये। जब अंतिम टुकड़ा हाथ में रह गया तो वह गाती हुई उस टुकड़े को हाथ में फरहाती हुई जोर से दो-तीन चक्कर लगा उठी। फिर उसने वह टुकड़ा ऊपर आसमान की ओर फेंका, "कौओ खाओ, कौओ खाओ।" और बहुत से कौए एक ही साथ उड़कर उसे लपकने झपटे। उस समय उन्हें देखती हुई लड़की मानो आनन्द में चीखती हुई-सी आवाज में गा उठी—

"दो नैना मत खाइयो, मत खाइयो
पीउ मिलन की आस'

रोटियां खतम हो गयी। कौए उड़ चले। लड़की एक-एक कर उनको उड़कर जाता हुआ देखने लगी। पलभर में छत कोरी हो गयी। अब वह आसमान के नीचे अकेली अपनी छत पर खड़ी थी। आसपास बहुत से मकानों की बहुत-सी छतें थी। उन पर कोई होगा, कोई न होगा। पर लड़की दूर अपने कौओं को उड़ते जाते हुए देखती रह गयी। गाना समाप्त हो गया था। धूप अभी फूटी ही थी। आसमान गहरा नीला था। लड़की के आठ खुले थे, दृष्टि थिर थी। जाने भूली सी वह क्या देखती रह गयी थी।

थोड़ी देर बाद उसने मानो जागकर अपने आसपास के जगत को देखा। इसी की राह में क्या मेरी ओर भी देखा? देखा भी हो, पर शायद मैं उसे नही दीखा था। उसके देखने में सचमुच कुछ दीखता ही था, यह मैं कह नहीं सकता। पर, कुछ ही पल के अनन्तर वह मानो वर्तमान के प्रति, वास्तविकता के प्रति, चेतन हो आयी। तब फिर बिना देर लगाये चट चट उतरती हुई वह नीचे अपने घर में चली गयी।

मैं अपनी खिड़की में खड़ा-खड़ा चाहने लगा कि मैं भी देखूं कि कौए कहां-कहां उड़ रहे हैं और वे कितनी दूर चले गये हैं। क्या वे कहीं दीखते भी हैं? पर मुश्किल से मुझे दो एक ही कौए दीखे। वे निरर्थक भाव से वहां बैठे थे, या वहां उड़ रहे थे। वे मुझे मूर्ख और घिनौने मालूम हुए। उनकी काली देह और काली चोंच मन को बुरी लगी। मैंने सोचा कि 'नहीं, अपनी देह मैं कौओं से नहीं चुनवाऊंगा। छि:, चुन-चुनकर

इन्हींके खाने के लिए क्या मेरी देह है? मगो दह और शौय ?—छी।'

जान पड़ता है खड़े-खड़े मुझे काफी समय खिड़की पर ही हो गया, क्योंकि इस बार देखा कि ढेर-के-ढेर कपड़े कन्धे पर लाद वही लड़की फिर उसी छत पर आ गयी है। इस बार वह गाती नहीं है, वहा पड़ी एक खाट पर उन कपड़ों को पटक देती है और उन कपड़ों में से एक एक को चुनकर फटककर वहीं छत पर फैला देती है। छोटे बड़े उन कपड़ों की गिनती काफी रही होगी। वे उठाये जाते रहे फटके जाते रहे, फैलाये जाते रहे, पर उनका अन्त शीघ्र आता न दीखा। आखिर जब खतम हो गये तो लड़की ने सिर पर आये हुए धोती के पल्ले को पीछे किया। उसने एक अंगड़ाई सी फिर सिर को जोर से हिलाकर अनबधे अपने बालों को छिटका लिया और धीमे धीमे वहीं डोलकर उन बालों पर हाथ फेरने लगी। कभी बालों की लट को सामने लाकर देखती फिर उसीको लापरवाही से पीछे फेंक देती। उसके बाल गहरे काले थे और लम्बे थे। मालूम नहीं उसे अपने इस वैभव पर सुख था या दुख था। कुछ देर वह उंगलियां फेर फेरकर अपने बालों को अलग-अलग छिटकाती रही। फिर चलते चलते एकाएक उन सब बालों को इकट्ठा समेटकर झटपट जूड़ा सा बांध पल्ला सिर पर खींच वह नीचे उतर गयी।

इसके बाद मैं खिड़की पर नहीं ठहरा। घर में छोटी साली आयी हुई है। इसी शहर के दूसरे भाग में रहती है और ब्याह न करके कालिज में पढ़ती है। मैंने कहा, "सुनो यहां आओ।"

उसने हँसकर पूछा "कहां कहां ?"

खिड़की के पास आकर मैंने पूछा 'क्या जी, जाह्नवी का मकान जानती हो ?"

'जाह्नवी ! क्यों वह कहां है ?

'मैं क्या जानता कहां है ? पर देखो यह घर तो उसका नहीं है ?'

उसने कहा, 'मैंने घर नहीं देखा। इधर उसने कालिज भी छोड़ दिया है।"

'चलो अच्छा है।" मैंने कहा और उसे जैसे-तैसे टाला। क्योंकि वह पूछने-ताछने लगी थी कि क्या काम है, जाह्नवी को मैं क्या और कैसे और

क्या जानता हूं। सच यह था कि मैं रत्तीभर उने नही जानता था। एक बार अपने ही घर मे इसी साली की कृपा और आग्रह पर एक निगाह एक को देखा था। बताया गया था कि वह जाह्नवी है और मैंने अनायास स्वीकार कर लिया था कि अच्छा, वह जाह्नवी होगी। उसके बाद की सच्चाई यह है कि मुझे कुछ नही मालूम कि उस जाह्नवी का क्या बन गया और क्या नही बना। पर किसी सचाई को बहनोई के मुह से सुनकर स्वीकार कर ले तो साली क्या ! तिस पर सचाई ऐसी कि नीरस। पर ज्यादा मैंने टाला।

बात-बात मे मैंने कहना भी चाहा कि ऐसी ही तुम जह्नवी को जानती हो ऐसी ही तुम साथ पढती थी कि जरा बात पर कह दो मालूम नहीं'। लेकिन मैंने कुछ कहा नही।

इसके बाद सोमवार हो गया मगलवार हो गया और आज बुध भी होकर चुका जा रहा है। चौथा रोज है। हर रोज सवेरे खिडकी पर देखता हैं कि कौवे काव काव छीन झपट कर रह हैं और वह लडकी उन्हे रोटी के टुकडा के मिस कह रही है—

"कागा चुन चुन खाइयो ।

मुझको नही मालूम कि कौए जो कुछ उसका खायेंगे उस कुछ भी उसका सोच है। कौआ को बुला रही है "कौओ आओ, कौओ आओ',आग्रह कह रही है "कौओ खाओ कौओ खाओ। वह खुश है कि कौए आ गये है और वे खा रहे है। पर एक बात है कि आ कौओ, जो तन चुन-चुनकर खा लिया जायगा, उसको खा लेने म मेरी अनुमति है। वह खा-पूकर तुम सब निवटा देना। लेकिन ओ मेरे भाई कौओ ! इन दो नैनो का छोड देना। इन्हे मत खा लेना। क्या तुम नही जानते कि उन नैना म एक आस बसी है जो पराये मे बस है। वे नैना पीउ की बाट मैं है। ओ कौओ, ये मेरे नही हैं मेरे तन के नहीं हैं। व पीउ की आस को बनाए रखने के लिए हैं। सो, उन्हे छोड देना।'

आज सबेरे भी मैंने यह सब-कुछ देखा। कौआ को रोटी खिलाकर वह उसी तरह नीचे चली गयी। फिर छोटे बडे बहुत से कपडे धोकर लायी। उसी भांति उन्हे झटकाकर फैला दिया। वैसे ही बाल छितराकर

थोड़ी देर डोली। फिर सहसा ही उन्हें जूड़े में संभालकर नीचे भाग गयी।

जाह्नवी को घर में एक बार देखा था। पत्नी ने उसे खास तौर पर देख लेने को कहा था और उसके चले जाने पर पूछा था, "क्यों, कैसी है ?"

मैंने कहा था, 'बहुत भली मालूम होती है। सुन्दर भी है। पर क्या ?"

"अपने बिरजू के लिए कैसी रहेगी ?'

बिरजू दूर के रिश्ते में मेरा भतीजा होता है। इस साल एम० ए० में पढ़ता है।

मैंने कहा 'अरे, ब्रजनन्दन ! वह उसके सामने बच्चा है।'

पत्नी ने अचरज से कहा, "बच्चा है। बाईस बरस का तो हुआ।"

"बाईस छोड़ बयालीस का भी हो जाय। देखा नहीं कैसे ठाठ से रहता है। यह लड़की रूखी कैसी बस सफेद साड़ी पहनती है। बिरजू इसके लायक कहा है ! या भी कह सकती हो कि यह बेचारी लड़की बिरजू के ठाठ के लायक नहीं है।'

बात मेरी कुछ सही, कुछ व्यंग्य थी। पत्नी ने उसे कान पर भी न लिया। कुछ दिनों बाद मुझे मालूम हुआ कि पत्नीजी की कोशिश से जाह्नवी के मां-बाप से (—मां के द्वारा बाप से) काफी आगे तक बढ़कर बातें कर ली गयी हैं। शादी के मौके पर क्या देना होगा, क्या लेना होगा एक-एक कर सभी बातें पेशगी तय होती आ रही हैं।

इतने में सब किये-कराये पर पानी फिर गया। जब बात कुल किनारे पर आ गयी थी, तभी हुआ क्या कि हमारे ब्रजनन्दन के पास एक पत्र आ पहुंचा। उस पत्र के कारण एकदम सब चौपट हो गया। इस रंग में भंग हो जाने पर हमारी पत्नीजी का मन पहले तो गिरकर चूर चूर-सा होता जान पड़ा पर फिर वह उसी पर बड़ी खुश मालूम होने लगी।

मैं तो मानो इस मामला में अनावश्यक प्राणी हूं ही। कामा-काल मुझे खबर तक न हुई। जब हुई तो इस तरह—

पत्नीजी एक दिन सामने आ धमकी। बोलीं, 'यह तुमने जाह्नवी के बारे में पहले से क्यों नहीं बतलाया ?'

मैंने कहा 'जाह्नवी के बारे में मैंने पहले से क्या नहीं बतलाया

भाई ?"

"यह कि वह कैसी है ?"

मैंने पूछा, 'ऐसी कैसी ?"

उन्होंने कहा, "बनो मत। जैसे तुम्हें कुछ नहीं मालूम।"

मैंने कहा, "अरे, यह तो कोई हाईकोर्ट का जज भी नहीं कह सकता कि मुझे कुछ भी नहीं मालूम। लेकिन, आखिर जाह्नवी के बारे में मुझे क्या-क्या मालूम है यह तो मालूम हो।'

श्रीमतीजी ने अकृत्रिम आश्चर्य से कहा, "बिरजू के पास खत आया है, सो तुमने कुछ नहीं सुना ? आजकल की लड़कियां, बस कुछ न पूछो। यह तो चलो भला हुआ कि मामला खुल गया। नहीं तो—'

क्या मामला, कहां, कैसे खुला और भीतर से क्या कुछ रहस्य बाहर हो पड़ा सो सब बिना जाने मैं क्या निवेदित करता ? मैंने कहा, कुछ बात साफ भी कहु।'

उन्होंने कहा, वह लड़की आशनाई में फंसी थी।—पढ़ी लिखी सब एक जात की होती है।"

मैंने कहा, 'सबकी जात बिरादरी एक हो जाय तो बखेड़ा टले। लेकिन असल बात भी तो बताओ।"

'असल बात जाननी है तो जाकर पूछो उसकी महतारी से। भली सम्बंधिन बनने चली थी। वह तो मुझे पहले ही से दाल में काला मालूम होता था। पर देखो न कैसी सीधी भोली बातें करती थी। वह तो देर क्या थी, सब हो ही चुका था। बस लगन-महूर्त की बात थी। राम-राम, भीतर पेट में कैसी कालिख रखते हैं, मुझे पता न था। चलो, आखिर परमात्मा ने इज्जत बचा ली। वह लड़की घर में आ जाती तो मेरा मुह अब दिखने लायक रहता ?

मेरी पत्नी का मुख क्या किस भांति दिखाने लायक न रहता, उसमें क्या विकृति आ रहती सो उनकी बातों से समझ में न आया। उनकी बातों में रस कई भांति का मिला, तथ्य न मिला। कुछ देर बाद उन बातों से मैंने तथ्य पाने का यत्न ही छोड़ दिया और चुपचाप पाप-पुण्य धर्म-अधर्म का विवेचन सुनता रहा। पता लगने पर मालूम हुआ कि ब्रजमोहन

के पास खुद लड़की यानी जाह्नवी का पत्र आया था। पत्र मैंने देखा। उस पत्र को देखकर मेरे मन में कल्पना हुई कि अगर वह मेरी लड़की होती तो ?—मुझे यह अपना सौभाग्य मालूम नहीं हुआ कि जाह्नवी मेरी लड़की नहीं है। उस पत्र की बात कई बार मन में उठी है और घुमड़ती रह गयी है। ऐसे समय चित्त का समाधान उड़ गया है और मैं शून्य भाव से हमें जो शून्य चारों ओर से ढके हुए है उसकी ओर देखता रह गया हूं।

पत्र बड़ा नहीं था। सीधे-सादे ढंग से उसमें यह लिखा था कि 'आप जब विवाह के लिए यहां पहुँचेंगे तो मुझे प्रस्तुत भी पायेंगे। लेकिन मेरे चित्त की हालत इस समय ठीक नहीं है और विवाह जैसे धार्मिक अनुष्ठान की पात्रता मुझमें नहीं है। एक अनुगता आपको विवाह द्वारा मिलनी चाहिए—वह जीवन-संगिनी भी हो। वह मैं हूं या हो सकती हूं इसमें मुझे बहुत सन्देह है। फिर भी अगर आप चाहें आपके माता पिता चाहें तो प्रस्तुत मैं अवश्य हूं। विवाह में आप मुझे लेंगे और स्वीकार करेंगे तो मैं अपने को दे ही दूंगी, आपके चरणों की धूलि माथे से लगाऊंगी। आपकी कृपा मानूंगी। कृतज्ञ होऊंगी। पर निवेदन है कि यदि आप मुझ पर से अपनी मांग उठा लेंगे मुझे छोड़ देंगे तो भी मैं कृतज्ञ होऊंगी। निर्णय आपके हाथ है। जो चाहे करें।'

मुझे ब्रजनन्दन पर आश्चर्य आकर भी आश्चर्य नहीं होता। उसने दृढ़ता से साथ कह दिया कि मैं वह शादी नहीं करूंगा। लेकिन उसने मुझसे अकेले में यह भी कहा कि चाचाजी, मैं और विवाह करूंगा ही नहीं करूंगा तो उसीसे करूंगा। उस पत्र को वह अपने से अलहदा नहीं करता है। और मैं देखता हूं कि उस ब्रजनन्दन का ठाठ-बाट आप ही कम होता जा रहा है। सादा रहने लगा है और अपने प्रति सजग बिल्कुल भी नहीं दीखता है। पहले विजेता बनना चाहता था, अब विनयावनत दीखता है और आवश्यक से अधिक बात नहीं करता। एक बार प्रदर्शिनी में मिल गया। मैं तो देखकर हैरत में रह गया। ब्रजनन्दन एकाएक पहिचाना भी न जाता था। मैंने कहा, ब्रजनन्दन, कहो क्या हाल है ?"

उसने प्रणाम करके कहा 'अच्छा हूं।'

वह मेरे घर पर भी आया।

पत्नी ने उसे बहुत प्रेम किया और बहुत-बहुत बधाइयां दी कि ऐसी लड़की से शादी होने से चलो भगवान् ने समय पर रक्षा कर दी। जाह्नवी नाम की लड़की की एक एक छिपी बात बिरजू की चाची को मालूम हो गयी है। वह बातें—ओह! कुछ न पूछो, बिरजू भैया! मुंह से भगवान किसीकी बुराई न करावे। लेकिन—

फिर कहा, "भई, अब बहू के बिना काम कब तक हम चलायें, तू ही बता। क्या रे, अपनी चाची को बुढ़ापे में भी तू आराम नहीं देगा? सुनता है कि नहीं?"

ब्रजनंदन चुपचाप सुनता रहा।

पत्नी ने कहा, "और यह तुझे क्या हो गया है? अपने चाचा की बातें तुझे भी लग गयी हैं क्या? न ढंग के कपड़े, न ढंग की बातें। उन्हें तो अच्छे कपड़े लत्ते सोभते नहीं है। तू क्या ऐसा रहने लगा है रे?"

ब्रजनंदन ने कहा, "कुछ नहीं, चाची। और कपड़े घर रखे हैं।"

अकेले पाकर मैंने भी उससे कहा, "ब्रजनंदन, बात तो सही है। अब शादी करके काम में लगना चाहिए और घर बसाना चाहिए। है कि नहीं?"

ब्रजनंदन ने मुझे देखते हुए बड़े बूढ़े की तरह कहा, "अभी तो उमर पड़ी है, चाचाजी!"

मैंने इस बात को ज्यादा नहीं बढ़ाया।

अब खिड़की के पार इतवार को, सोमवार को, मंगलवार को और आज बुधवार को भी सवेरे-ही-सवेरे छत पर नित रोगी के मिस कौओं को पुकार-पुकार कर बुलाने खिलानेवाली यह जो लड़की देख रहा हूं सो क्या जाह्नवी है? जाह्नवी को मैंने एक ही बार देखा है इसलिए मन को कुछ निश्चय नहीं होता। कद भी इतना ही था, लावण्य शायद उस जाह्नवी में अधिक था। पर यह वह नहीं है, जाह्नवी नहीं है ऐसी दिलासा मैं मन को तनिक भी नहीं दे पाता। सवेरे सवेरे इतने कौए बुला लेती है कि खुद दीखती ही नहीं, काले काले वे ही-वे दीखते हैं। और वे भी उसके चारों ओर ऐसी छीन-झपट-सी करते हुए उड़ते रहते हैं मानो बड़े स्वाद से, बड़े प्रेम से, चोंथ चोंथकर उसे खाने के लिए आपस में बदाबदी मचा रहे हैं।

पर उनसे घिरी वह कहती है, "आओ कौओ, आओ।" जब वे आ जाते हैं तो गाती है—

"कागा चुन चुन खाइयो !"

और जब जाने कहां-कहां के कौए इकट्ठे के-इकट्ठे काऊं-काऊं करते हुए चुन-चुनकर खाने लगते हैं और फिर भी खाऊं-खाऊं करके उससे, उससे भी ज्यादा मांगने लगते हैं, तब वह चीख मचाकर चिल्लाती है कि ओरे कागा नहीं, ये—

दो नैना मत खाइयो !
मत खाइयो—
पीउ मिलन की आस !"



दृष्टि-दोष

बचपन मे जो कुछ हो जाता है, वह याद रहता भी है, नही भी रहता है। उसमे से हम 'कुछ उस' को तो भुला देना चाहते है और 'कुछ इस' को अपने निकट सदा ताजा रखे रखना चाहते हैं। किन्तु बढते चलने मे क्या छूटता जायगा और क्या अपने भीतर सग्रहीत हुआ रहेगा, सो किसी नियम से शोधा नही जा सकता।

मेरी अवस्था पतालीस वर्ष की होगी। विवाह भी कर लिया है और अपनी डाक्टरी मे मजबूती से सभला बैठा हू। इस डाक्टरी की अच्छी आय और ऊची प्रतिष्ठा की कुर्सी पर से अब जब बचपन को देखता हू तो वह अच्छा ही लगता है। अब यह स्वीकार करते हमे आनन्द ही होता है कि हम छोटे थे तब बडे मूर्ख थे। क्योंकि उससे बिल्कुल पार हो जाकर, हम अब उस पर असलग्न निगाह से देख सकते हैं।

किशोरावस्था को भी बचपन ही कहिये। अन्तर इतना ही है कि इस अवस्था मे बच्चे की बेवकूफी यहा तक बढ जाती है कि उसे हिम्मत होती है कि वह अपने को बडा समझे, बच्चा न समझे।

उसी किशोरावस्था म एक बात घटी।—अब तो 'बात' ही कहना चाहिए, किन्तु जब यह हो रही थी तब कोरी 'बात' ही नही थी। क्या थी, यह पाना एकदम असभव है। पर सारी जिन्दगी को एक मोड पर वह डाल गयी और वहा सदा के लिए जैसे एक गाठ बैठ गयी।

घर मेरा ग्वालियर था, पढता कानपुर था। कानपुर मे एक रिश्तेदार के यहा रहता था। अब 'बात' यह थी कि एक सम्भ्रान्त पडोसी के घर म सुभद्रा नामक एक लडकी रहती थी। नवी क्लास म थी या दसवीं म, ठीक याद नही। स्वभावत हम एक-दूसरे को जानने लगे। परस्पर परिचय पाया, मिले। परिणाम हुआ कि एक रोज मेरे मन मे होने लगा कि मैं या तो उसे पा लू या मर जाऊ। किन्तु इन दोनो म से कोई बात होने में

नहीं आयी। हुआ यह कि मैंने सुना—लड़की के पिता उसकी सगाई के लिए अन्यत्र कहीं ठीक ठाक कर रहे हैं।—सुनकर जग फीका लगने लगा। उस समय मन में आया कि चलो जी, मर-मराकर पाप काटो। यह भी सोचा कि मैं तो मरूं ही, चलो, सुभद्रा को भी तमंचे की एक चोट से छुटकारा दे दूं। फिर कहां रहेगा जगत और कहां रहेगी हमारे मन की बिथा।

यह विचार मैंने पत्र में सूचित किया कि कहो सुभद्रा, क्या राय है?

सुभद्रा के पास से कोई राय भर पास नहीं आयी। न कोई मेरे लिए सम्बोधन ही आया न उद्बोधन। न प्रेम की शपथें आयी न क्षमा की प्रार्थना। मृत्यु के विषय में निर्भीक सकल्प भी नहीं आया, जिसकी मुझे पक्की आशा थी।—असल में कोई जवाब ही नहीं आया।

तब मेरी आखें खुल-खुलकर पड़ी। मैंने कहा कि ओ सुभद्रा, तू ऐसी! पर क्या न? आखिर तो तिरिया चरित है!' और इच्छा की कि एक लम्बी-सी तलवार क्या न हुई जो दोनों के सीने में से निकलकर दोनों को आपस में पिरो दे और मंजिल तय हो जाय। फिर भी हठात मैं सम्भला और पत्र-पर-पत्र लिखे। पर जवाब किसीका भी न पाया।

फिर अब जब उस किस्से से मैं बिलकुल पार हूं, बहुत दूर हूं तब झूठ बोलने का मुझे कोई लालच नहीं है। मैं कह सकता हूं कि हम दोनों के बीच में यदि कुछ रसीला उठा और भरकर फोड़े-सा पकता ही आया तो उसमें सुभद्रा निरी निर्दोष न थी। मैं कितना ही उस समय अपने पौरुष

म कानपुर छोड दूगा, अब से लखनऊ म पढूगा।

म लखनऊ में जाकर पढने लगा। खूब जी को तोड मोडकर मैंने उसे अध्ययन में झोक दिया। मैंने तय कर लिया कि सुभद्रा चाहे जहा हो, वह मुझे नही पानी है। अब तो सफलता और नामवरी ही मुझे पानी है बस पानी है। म पढता गया और पढता गया।—बी० एससी० किया, फिर मेडिकल कालिज म गया। ब्याह का नाम पास तक न फटकने दिया। एम० बी० बी० एस० के बाद दो साल आप्टिक्स मे स्पेशलिस्ट बनने मे निकाले। इस भाति राह को दीघ बनाकर भी जब म उसके पार आ लगा, तब, तीस साल का होकर, अपनी आखो की डाक्टरी म जमने बैठ गया।

तीस से आरम्भ करके आज पैतालीस वष के होने के इस काल ने मुझे ठोक-ठाक कर पक्का आदमी बनाया है।

इस बीच बार-बार मुझसे कहा गया, 'ब्याह।"

हर बार मने कह दिया, "नही।"

फिर जिद हुई, "अरे, क्या नही ?"

मने शान्त होकर यही कहा, 'नही। इसीलिए और नही।"

मा बाप हार गये। और भी कहनेवाले हार गये। और म बस डाक्टरी मे गहरे स गहरा गडने मे लगा रहा। डाक्टरी चमकने लगी। वह बढने और जमने लगी। लेकिन मा बाप शिथिल पडन लगे! उन्होने अपने जीवन में देखा कि म कामयाब डाक्टर बन गया हू। व प्रसन्न थे किन्तु किन्तु इसको वे जीते जी तरसा ही किये कि म विवाह करके घर बार लेकर बैठू और उनके वश की बेल आगे बढाऊ। अपने वश मे और वशजो मे व्यक्ति अमर होकर जिये, इससे गहरी प्राणो मे और क्या चाह है?

किन्तु जिक्र हुआ, "ब्याह!"

मैंने कहा, "उह!"

फिर जिरह हुई "अरे क्यो ?"

मने पिंड छुडाया कहा, 'छोडो, छोडो।"

सो उमर आती गयी। मा-बाप छीजते गये। और एक दिन वे मर गये।

तब मैं डाक्टरी को पकडकर उसके साथ और भी जोर से आलिगन में

चिपट गया। जसे मने मन मे कहा—'अरी ओ, तू सत्यानाशिनी डायन डाक्टरी! अब तू मुझसे कहा जायगी? तू भी देख कि मैं तुझे फुला फुला कर कितनी कर देता हू। पर मोटापा ही तेरे भाग्य मे है, अरी बन्ध्या!'

इस भांति मैं चालीस वष के लगभग हो आया। स्थूल भी होता गया। पैसे के सिर पर पैसा आकर चिपटकर बैठता गया और डाक्टरी फूलपर फूलती गयी। लेकिन मैं अब कभी कभी अपने को निष्फल-सा भी अनुभव करता। मन गिरा गिरा सा रहता और लगता कि मैं जैसे झड चुका हू। मैं अकेला हू और दुनिया धन जोडने के लिए है, मानो इस बात पर मन अब चिपकाये न चिपकता वहा स वह खिसक आता ही चाहता। ऐसे समय अपने बारे मे और सतक होकर मैं अपने को सभाल लेता। खूब चुस्त और कत्तव्य म अत्यन्त लीन होकर कम मे चिपटा ही रहता, व्यस्त ही रहता। सोता बहुत कम। पढता था प्रयोग करता था, परीक्षण करता था, उसके बाद रोग निदान और दवा दारू करता था। नौकर बहुत थे और वे सब मुझसे होशियार रहते थे। अपनी भांति मैं उन्हें भी मशीन की नाइ अथक और चुस्त न देखू, यह मुझे असह्य था। मैं उन पर रह रहकर झल्लाता और झीकता था। वक्त का मेरे लिए बहुत मूल्य था, क्योंकि उसको अपना सामना करते मैं न देखना चाहता था। म अत्यन्त उद्यमी डाक्टर था। किन्तु—

किन्तु इस सबसे म तग भी था।

इस भांति बयालीस वष का होते होते मने सोचा—'विवाह करूगा।' और एक मादा से विवाह मने कर लिया।

मादा कहने मे यह मतलब नही कि मने स्त्री से विवाह नही किया। नही वह स्त्री थी किसीकी पुत्री भी थी किसी की बहन भी थी। उसका नाम भी था रूप भी था और उसमे व्यक्तित्व भी तो था ही। किन्तु मैंने विवाह तो नाम, रूप अथवा स्त्री के स्त्रीत्व और व्यक्तित्व आदि से नहीं किया। वह तो मैंने मादा थी, इसमे किया। मादा होने के कारण घर से मैंने स्त्री को विवाहा।

घर म चार नौकर हैं इतनी कुर्सी इतने पलग, इतने तौलिये हैं तो के लिए मादा भी क्यो नहीं होसकती? विवाह की कीमत देकर

इसलिए उस जरूरत की चीज को भी मैंने अपने तईं सुलभ बना लिया।

अब मैं लगभग पतालीस वर्ष का हूं। ऐसी पकी अवस्था मे अपनी स्थूलांगिनी और मान्यदहा डाक्टरी के स्वामित्व-काल के बीच म ही, वर्षा म भीगे हुए एक दिन, जो घटना हो गयी क्या उसको आप समझेंगे ?

२

सवेरे से बारिश हो रही थी। सर्दी खूब थी। आज मैं कुछ बेकाम-सा था। रोगी कम आये थे। बाल्ल खुलने में न आते थे। रिमझिम रिमझिम पड़ती हुई बूदो म मेरा भी जी जैसे कुछ विवश हो आ रहा हो! मानो बूंदें मेरे भीतर चली आकर अतर को भिगो रही हो। मैं इस तरह की बेमतलब अवस्थाओ को नापसन्द करता हू, जब हम पाते हैं कि अपने ही मे हम घुले जा रहे हैं घुले जा रहे है!—छि! यह क्या आदमियत है? इसलिए उन नीरव और गीली घडियो को चुनौती देता हुआ सा मैं पुरुषार्थ-पूर्वक कुर्सी स खडा होकर अपने ही कमरे में टहलने लगा। तभी थोड़ी देर मे मुशी ने आकर एक पर्चा मुझे दिया जिस पर लिखा था 'On Business', नीचे हस्ताक्षर स्पष्ट न थे। मैंने पूछा 'कौन है ?"

मुशी के बताने से मालूम हुआ, एक भद्र महिला हैं।

महिला! मैं दृढ कदमो से टहल रहा हू तब भद्र महिला!

मैंने किंचित् परुष भाव से कहा 'वह क्या चाहती हैं ?'

मुशी ने सकेत से बताया कि जहा तक वह समझता है, जो पर्चे मे लिखा है वही वह महिला चाहती होगी।

मैंने अपनी कुर्सी की ओर बढते हुए कहा, 'अच्छा, उन्हे आने दो।"

महिला आयी। मैं कुर्सी पर बैठा रहा, अभिवादन म झूठे को तनिक ही उठा हूगा कि बैठ गया।

महिला ने कुर्सी खींची, हाथो स ग्लब्स खीचकर तह करके मेज पर रख दिये और खडे-ही खडे हठात् मुस्कराते हुए कहा, 'डाक्टर साहब, आप मुझे अपनी मरीजा बनने दीजियेगा ?"

यह कहते-कहते वह कुर्सी पर बैठ गयी।

मेरे भीतर कुछ वस्तु जोर से उठने और बैठने लगी। मुझे अपने को यह मनाना मुश्किल होता जाता था कि मैं डाक्टर हू और यह मरीजा है

कि मैं अपरिचित हूँ और यह भी अपरिचिता है।

मानो अपने बावजूद मैंने कहा, "आपका नाम—"

महिला ने बीच ही में बात को लेकर कहा, "जी हां, मेरा नाम सुभद्रा है, और मैं खूब सानन्द हूँ।'

मानो अब मैं अपने भीतर शान्त होने लगा और आदतवश अनायास डाक्टर हो चला। मैंने साधारण भाव में कहा, "ओह !"

सुभद्रा ने कहा, 'जी हां डाक्टर साहब, मैं बिल्कुल खुश हूँ। लेकिन लोग कहते हैं कि मुझे दृष्टि-दोष है। जरा जोर पड़ने पर आंख में पानी उतर आता है। आप आंख के विशेषज्ञ हैं। आज जब काम से देहली आना हो गया है तब मैं आपसे पूछना चाहती हूँ कि क्या मुझे आप अपनी मरीजा बनने देंगे ?"

मैंने कहा "अच्छा।"

इस 'अच्छा' में मानो मैंने अच्छी तरह कह दिया कि मैं डाक्टर ही हूँ।

मैं उठकर एक तरफ को बढ़ा कहा "आप जरा इधर आइयेगा ?"

उनकी आंख को साधारण रीति से देखा, यथानियुक्त दूरी पर रखे बड़े छोटे अक्षरों को पढ़वाया और मुस्कराकर कहा, 'दृष्टि में तो दोष नहीं मालूम होता।'

उन्होंने कहा 'आंख में पानी बहुत जल्द आ जाता है।"

मैंने कहा 'तो थोड़ी तकलीफ और कीजिये।

और डार्क रूम में ले गया। वहां अंधेरा-ही-अंधेरा था। मैंने चट से बिजली खोली और आंख के सम्बन्ध में उनका इतिवृत्त जानना आरम्भ किया। वह मुस्कराती जाती थीं। मुझे ध्यान रखना पड़ रहा था कि मैं डाक्टर हूँ। मैंने आवश्यक प्रयोग और परीक्षण कर कहा 'चलिये अब दफ्तर में चलें।

वह कुर्सी पर बैठी थी। मैं बराबर में खड़ा था। एक दूधिया बत्ती जल रही थी जो इस कमरे की रात को दिन बनाने की भीख मांगती लगती थी। कुर्सी पर बैठे-बैठे उन्होंने कहा 'कुछ दवा नहीं दीजियेगा ?"

मैंने कहा "दवा आपको जरूर चाहिए तो जरूर दूंगा।"

"जी हां, क्यों जरूर नहीं चाहिए ?"

मैंने एक शीशी में कुछ बनाकर तैयार कर दिया। और कहने वाला ही था, "चलिये" कि उन्होंने पूछा, "डाक्टर साहब मेरी निगाह ठीक हो जायगी ?"

मैंने कहा, "निगाह तो ठीक है।"

सुनकर वह चुप हो गयी। मैं भी चुप रहा। सब चुप था—जैसे समय भी चुप ठहर गया हो। बाहर बूंदें टपटप टपकती थीं। वह टपटप अस्पष्ट कमरे में आ रही थी। मानो जीवन का वे ही वहां लक्षण थीं, या कि हम दोनों के निश्वास। तीन मिनट, चार मिनट हो गये। वे तीन चार मिनट बेहद भारी होते गये। हाथ कुछ न आता था जो उन घड़ियों को टाल दे, और अटल होकर वे एक एक पल मन-मन भर भारी होते जाते थे। मानो अब मिथ्याचार टिकाये न टिकेगा। 'मैं डाक्टर हूं" इसको कुचलकर यह प्रतीति मानो ऊपर आ ही रहेगी कि 'मैं पुरुष हूं" और यह भी कि जो कुर्सी में है वह मरीजा तो चाहे हो और चाहे न भी हो पर वह सुभद्रा है।

शहद से भी भारी य दो आत्माओं के बीच के सन्नाटे की घड़ियां असह्य होती चली गयीं। चौथा मिनट होते होते आखिर मानो मोह तोड़, अपने साथ एकदम झटपट मचाकर मैंने कहा, "चलिये, दवा बन गयी है।"

उन्होंने भी जसे खोयी सुध पायी। उन्होंने कहा, आप मरीज के इत मीनान का इतना ही ख्याल रखते हैं डाक्टर साहब ? रहिए बतलाइये मेरी आंख ठीक हो जायगी ? मैं अब चालीस की होने आयी हूं।"

मैंने धीमे से कहा, 'हां, जरूर हो जायगी।' फिर हम आगे उठकर बाहर दफ्तर में आ गये। महिला ने वहां धीमे धीमे शान्त विचारपूर्वक, हाथों में दस्ताने पहनने शुरू किये। उसी समय उन्होंने कहा, 'आपकी कृपा के लिए, डाक्टर साहब मैं बहुत कृतज्ञ हूं।" यह कहकर मेरी फीस के बीस रुपये निकालकर मेरे सामने मेज पर रख दिये।

वे दोनों नोट, नये, रंगीन क्रिस्प, मेरी निगाह के आगे बिछे-के बिछे ही रह गये। मालूम हुआ कि इन कागजों का बोझ मेरे हृदय से सम्भाला न जायगा। जी में हुआ था कि इन कागजों को और अपना डाक्टरी के आवरण को फाड़ फेंककर बाहें फैलाकर खड़ा हो जाऊं और कहूं, 'ओ

सुभद्रा !" लेकिन वह कुछ भी न हुआ। मेरा हाथ यन्त्र के समान धीरे धीरे बढा नोटों तक पहुंचा और नोटों को अपनी पकड में मरोडकर उन्हें चुपचाप मेरे जेब में डाल गया। सुभद्रा तकती रही और जब नोट चुप जेब में बन्द हो गये तब मानो उसके मुख का सुख बढा। उसने कहा, 'डाक्टर साहब, मैं बाल बच्चेदार स्त्री हूं। क्या आप इजाजत देंगे कि आपके बाल बच्चों से मिल लूं ? मेरे बच्चे सब दूर हैं। मैं यहां अकेली हूं।"

मैंने कहा, "आप यह क्या रही है ?"

'मैं यहां बिलकुल अकेली हूं डाक्टर साहब, और हाल ही में मेरा पांच बरस का एक बच्चा मर गया है। वह किताब में से ए-बी-सी-डी सुनाया करता था और खाते वक्त रोटी के हरूफ बनाया करता था। यहीं के अस्पताल में वह मरा है। उसके बाप को छुट्टी नहीं मिल सकी और वह नहीं आ सके। और बच्चे बाप के पास हैं। उनको देखने को मेरा बहुत जी है। पर वह कहां है मैं यहां हूं ? आपके कितने बच्चे हैं डाक्टर साहब ?'

मैं विमूढ होता गया। कुछ कहने के लिए मैंने कहा, 'आप क्या कह रही हैं ?'

उन्होंने कहा "डाक्टर साहब, आप मुझे आपके कितने बच्चे हैं ?"

यह सब-कुछ मेरे लिए बहुत होता जा रहा था। मैंने एकदम कहा, 'मेरे कोई बच्चा नहीं है सुभद्रा !'

मैं यह पडने को हो गया। पर मानो वह चलने से हठात् इन्कार करते हुए उसने पूछा शादी नहीं की ?"

की है।

तब मानो मैंने उसके मुंह का सम्बोधन सुना केदार ! क्या यह मेरी कल्पना थी ? ' और मेरे कण्ठ तक आया—सुभद्रा !

हम अपनी अपनी जगह रहे और मानो एक दूसरे को निगाहों से निगल जाना चाहने लगे।

किन्तु यह सुभद्रा थी। उसने कहा "आप दुखी हैं ?"

' नहीं, दुखी नहीं हूं, "मैं कह चला ' दुख जानने लायक मैं नहीं हूं। उस समय सुभद्रा जो हो पडी, मैं उसे न समझ सका। उसने कहा, ' केदार

किन्तु मुझे तो देखो। मैं सुख से किसी तरह भी बचकर दुखी हो सकती हू ? हमारा गहस्थ जीवन स्वग है। मैं बच्चो को प्यार करती हू, बच्चे मेरे हैं। पति मुझे प्रेम करते हैं और वह मेरे पति हैं। छि फिर भी तुम दुखी होते हो। सुभद्रा कितने सुख मे है, यह नही देखते ?"

कहते कहते सुभद्रा की वाणी मानो ममवेधिनी होती गयी। वह मानो चीख चीखकर यह सुना रही थी।

तब मुझे मालूम होने लगा कि स्त्री क्या है ? कि वह मादा नही है, यह तो स्त्री ही है। मैंने माना उसको सम्बोधन देते हुए कहा, "सुभद्रा !"

उसने कहा, "नही, केदार, तुम मेरे सुख को कम नही कर सकते। यह देखो कगन—बाइस रुपये के मुझे स्वामी ने लेकर दिये थे। मेरी मोटर बाहर खडी है। बहुत सी चीजो की और अपनी मालिक मैं हू। केदार, तुमने शादी कब की ? चार वष पहले तक तो तुम ऐसे ही थ।"

मैंने कहा, "सुभद्रा !"

'नही केदार, तुम मेरा सुख स्पश नही कर सकते। तुम कोई नही हो कि मुझ सुखी को लेकर तुम दुखी बनो, जिससे कि मेरा ही सुख मुझे काटे। नही, तुम मेरे आनन्द को नही छू सकोगे। मैं बहुत प्रसन्न हू।"

'सुभद्रा !"

'केदार, तुम्हारे पत्र मुझे नही मिले, यही तुम समझो। बताओ, उनम मूखता के सिवा कुछ था ? और प्रेम मूखता है। प्रेम मे किसीने सुख पाया है ? इसलिये मैंने उसी क्षण उन पत्रो को समाप्त किया और उसके बाद सुख के राह की सब अडचन मिटा दी। विवाह हुआ, कुटुम्ब हुआ नही केदार, तुम ईर्ष्या नहा कर सकोगे।'

मैंने फिर कहा, 'सुभद्रा', ताकि वह रुके और शान्त हो। लेकिन उसने कहा, "केदार, तुमने कब ब्याह किया ? ग्यारस साल ही तो ? मैं सब जानती रही। लेकिन ततालिस वष तक तुम कुवारे रहे ? मैं कहती हू कि सुभद्रा पर इसकी कोई जिम्मेदारी नही है, कोई फिक्र नही है केदार, केदार ! क्या तुम आशा किये ही जाते हो ? किये ही जाओगे ? लेकिन आशा ठगिनी है। आशा झूठ है, जैसे कि तलाक झूठ है। तता-लिसवें वष ब्याह करके भी सुभद्रा को याद रखने की हिम्मत रखते हो ?

लेकिन तुम्हारी याद झूठ है, क्योकि सुभद्रा सुखी "

"सुभद्रा !"

" नही, मैं विधवा जल्दी होने वाली नही हू। मैं कभी विधवा नही हो सकती क्योकि मैं सती होऊगी। सतीत्व भारत से मिटा नही है, यह मुझसे लोग देखेंगे। तुम आशा करके अपने को ठगो मत, केदार ! क्योकि मैं विधवा एक क्षण को भी नही हूगी और तुम्हारा मुह भी नही देखूगी। दृष्टि दोष न होता तो क्या तुम समझते हो मैं याद भी करता कि केदार नाम का कोई डाक्टर है या केदार कोई आदमी भी है ? आख की वजह से ही मैं तुम्हारे पास आयी हू, यह खूब समझ लो।"

मैंने जेब से नोट निकाले। धीमे धीमे हाथ बढाकर उसका हाथ पकडा और उस हाथ की मुट्ठी बाध नोटो को भीच दकर उसकी कलाई को थामे ही कहा, सुभद्रा !

कुछ देर वह जैसे अवमग्न हो रही। फिर एक साथ झटके से अपना हाथ खीचकर बोली 'आप मुझे यह बताना चाहते हैं कि मैं मरीजा नही हू और आपके पास इसलिए नही आयी हू कि आप डाक्टर हैं ? अजी, मुझे दृष्टि-दोष न होता और आप आख के डाक्टर न होते तो मेरा आपसे क्या वास्ता था ? ये रुपये वापिस करके आप अपने को धोखा देना चाहते हैं कि मेरा आप से वास्ता है ?'

यह कहकर दोनो नोट मेज पर ही छोड दिये। वे कागज मुडे मुडे हुए मेज पर पडे रहे।

मैंने कहा 'सुभद्रा !

सुभद्रा खडी हो गयी। उसने कहा, अच्छा डाक्टर साहब मेरी आखो को आराम हो जायगा न ? आपने आठ रोज की दवा दी है। उसके बाद खत भेजकर या आदमी भेजकर भी आपके यहा से दवा मगायी जा सकती है न ? मेरा आना मुश्किल होगा।'

मैं भी खडा था। मैंने कहा 'प्यारी सुभ—"

लेकिन सुभद्रा दरवाजे से बाहर चली गयी थी।

इसको बीते ज्यादे दिन नही हुए हैं और मैं नहीं जानता कि इस घटना को मैं किस प्रकार तह करूं और अपने सामान में उसे कहां रखू।

विस्मृति

दूसरे विवाह की जो बहू आयी है उनके सिर में दर्द अधिक रहता है। और पहली स्त्री का जो लड़का है विपिन, वह पांच वर्ष का हो गया है, फिर भी बदशऊर बना हुआ है। उसमें अकल तो खाक भी नहीं है। अपनी नयी मां का कहना नहीं मानता, इतने पर ही बस नहीं है, वह उनके सामने बेअदबी तक कर उठता है और जवाब देने लगता है। ऐसे अवसरों पर अवश्य इस नयी मां ने उसे कभी कुछ दुरुस्त भी कर दिया है। पर जिस मां की कोख से यह कुलच्छनी उपजा है विपिन, कभी कुछ नहीं सीखेगा, ऐसा ही कुटवी बना रहेगा।

इसलिए घर में चौका-बासन और चीज-वस्त की सम्भाल और बच्चे विपिन की फिकर विपिन की दादी के ऊपर ही आ गयी है। उनकी अवस्था पचास से दो एक साल ऊपर होगी। देह भी अक्षम नहीं है। तन्दुरुस्ती भी खासी है।

सवेरे तड़के उठ जाती हैं और सन्ध्या तक करने को उन्हें काम-ही-काम रहते हैं। हारी थकी रात को सोती हैं। पर नींद उन्हें बड़े आराम की और बड़ी गहरी आती है।

काम का यह चक्र आरम्भ में ही इतने बंधे रूप से नहीं चल पड़ा था तब उनके मन में आशाएं थीं आकांक्षाएं थीं। वे ही असन्तोष पैदा करती थीं और काम में बाधा डालती थीं। पर, फिर तो वह सब कुछ को तिलाञ्जलि दे बैठी और काम में लग गयी। काम-काम-काम, बच्चे को नहला-खिलाकर चुकी कि चूल्हे का समय आ गया फिर बासन चौका, उसके बाद कुछ कपड़े-लत्ता का सीना उधेड़ना हो ले बैठी, नहीं तो चरखा। और यों वह तो दवा दारू और टहल भी उन्हें काफी समय का काम दे देती थी।

पहले सोचती थी—'अब तो बहू आ गयी है। बड़भागन हो पूतो फल। अब तो मैं पीढ़े पर बैठकर कहूंगी—बहू, पान तो लगाकर एक

लाना।' और दुपहर तीसरे पहर कभी कहूगी—'बहू, आज तो मेरे सिर की चोटी ठीक कर दे।' और नहीं तो मैं ही उसका सिर गोद मे ले बैठा करूगी और उसके बालो को काढकर ठीक करके भानू के कमरे म भेज दिया करू गी। और विपिन को भी एक मा मिलेगी जिसके साथ वह खेला करेगा—

पर बहू के सिर म तो दर्द बहुत रहता है और वह चौका वगरह कुछ भी काम नही कर पाती है। और विपिन बेहूदा ऊधमी लडका है—सो, उसके मन की बात पूरी नही हुई। मन मे जो था उस मन के ही भीतर कही खूब अच्छी तरह गाडकर उसे बैठना पडा।

पर यह सहज न था। पहले तो अडचनें पडी। बहू सास मे कहा-सुनी होती, और फिर बहू एक मे और सास दूसरे कमरे मे जाकर पड रहता। इस तरह रोटी कभी बनती कभी नही बनती।

लाला भानामल अपनी दुकान स आकर देखते। बहू के पास जाकर कहते "क्या बात है?

बहू मुह फेर लेती।

भानामल प्रेम से उसका हाथ पकडकर पूछते, "शशि, बात क्या है?

और शशिकला कहती 'क्या बात है! जाकर पूछो न अपनी मा से, क्या बात है! और तुम सब लोग मुझे मारना चाहते हो तो एकदम से क्यो नही मार डालते जो टंटा मिटे!'

लाला भानामल घबडाकर पूछते, "ऐसी क्या बात हुई, बताओ भी तो?"

शशिकला कहती बात हुई कि मैंने कहा—अम्माजी मेरा सिर बडा दुखता है नेक आज तुम रोटी बना लोगी?' सो इसी बात पर जाने क्या-क्या बात उन्होने मुझे नही सुनायी। मैं पूछती हू कि जब मैं मरने लगूगी तब भी तुम लोग यही तो समझोगे न कि बहाना है?"

बहू से निबटकर भानामल मा के पास जाकर कहते 'मा, क्या बात है?'

मा कहती, कुछ बात नहीं है, बेटा!"

भानामल कहते, "मा, उसने कहा था तो तुम एक दिन रोटी नही बना सकती थी ?"

मा कहती, "बना सकती थी बेटा, और बना दिया करूंगी। रोटी तो मैं बनाती ही थी। सोचती थी—बहू आ गयी है। चलो दो रोज को मुझे भी बिसराम मिल जायगा।—पर न सही बिसराम, मैं ही रोटी बना दिया करूंगी। मेरा इसमे जाता क्या है ! और काम मे तो आदमी अच्छा ही रहता है।"

भानामल—"अम्मा, उसके सिर मे दर्द रहता है। और वह कोई झूठ तो कहती नही। और रोग ऐसी चीज है कि न जाने कब बढ जाय !"

मा—'हा बेटा, ठीक तो है। चलो, मैं चौके म चलती हू। अभी बनाये देती हू रोटी।'

आरम्भ मे ऐसी कहा-सुनी जिस किसी बात पर हो जाती थी, पर, सदा ही, अन्त मे मा को अपना मन मार लेना होता था। वह हार जाती और झुक जाती। सोचती—'मेरे दिन, जो दिन थे, गये। तब गर्दन उठाती तो उठाकर रख भी सकती थी। अब, अब तो मेरे दिन झुककर चलने के आ गये हैं।' यह सोच मन के भीतर बडी टीस पैदा कर देता। पर उसीको जी मे बहुत नीचे गाड देकर और काम मे लग जाकर वह मानो थोडा आराम भी अनुभव करती। धीरे धीरे अपना मन मारकर बैठने की उनकी बान ही हो गयी। चोट खा-खाकर फन की तरह उठ खडे होने की शक्ति ही मानो उनके मन की खो गयी। मानो उनका मन ऐसा निर्विकार, निस्पद हो गया है कि चोट उन्हें लगती ही नही। एक-डेढ साल के भीतर उस वृद्धा माता के मन ने ऐसी शक्ति उपजा ली (अथवा ऐसी शक्ति खो दी) कि जिससे वह मान-अपमान रोष-क्षोभ आशा स्पर्द्धा आदि भावो का शिकार होने से मुक्त हो गया। ऐसा समय आने पर सास के कामो का क्रम और बहू के सिर-दर्द का सिलसिला यथा-वस्थित और अनुपराम गति से चलने लगा।

२

परिवार के कई व्यक्तियो के बीच मे रहकर भी मानो इस बडे घर

मे वह अकेली रहती थी। अठारह वर्ष की अवस्था मे उसके यह पुत्र भानामल हुआ। अब उस भानामल की अवस्था पचीस के लगभग है। पन्द्रह साल का था तब उसके पिता उठ गए। तभी से वह अपनी पसारी की दुकान पर बैठता है।

पिता उसके सिर से उठ गये तभी देखा गया कि भानामल मूर्ख नही है। वह यथवत् अपनी दुकान पर बठता है और अपना ब्याह करके अपनी गृहस्थी जमा लेना चाहता है।

मा ने बडे उछाह स बेटे का ब्याह किया। और अब वही मा बेटे के जीवन के लिए किसी भी भांति अनिवार्य नही रह गयी है। घर का सब काम धाम सम्भालती है ठीक है उसकी मा है ठीक है, पर भानामल सवेरे-ही सवेरे दुकान चला जाता है और आता है तो चुपचाप जल्दी से खाना खाकर बहू के कमरे म चला जाता है। अपनी मा से कहन-सुनन क लिए जसे उसक पास न कोई बात है न जरूरत ही है।

अपन धनी क निधन के बाद और विशेषकर अपने भाना के विवाह के बाद, मा अपने को सबक निकट पराया और सबके बीच अकेली अनुभव करने लगी है। ठीक जब उसके जी का प्यार जी का समस्त अपनापन, केन्द्रहीन लक्ष्यहीन हो जाने क कारण उमड उमड कर भर भर आकर और मानो अपनी बांह फैलाकर निमन्त्रण देता हुआ डोलने लगा ओ अरे, कोई है जो मेरा ह ? अरे कौन है जो मेरा है ?' तभी मानो उसे सब ओर से प्रत्युत्तर मिला, 'बुढिया हम मौज म है। तेरी आवश्यकता हमे नही है। तू जा।' तब वह ऊपर शून्य की ओर देख उठती, मानो पूछती, अरे ओ मेरे प्राणनाथ मुझे छोडकर, तू उडकर कहा चला गया है ? निर्मोही यहा मेरा कोई नही है मेरे लिए अब कुछ भी नहीं ह।'

इस स्थिति म अधिक रहना उसके लिए असहनीय हो जाता। भीतर की शून्यता उठ जाग ओर व्याप्त होकर मानो उस निगल लेना चाहती। तब वह उठकर काम करने लगती। एस समय अधिकतर भूखे मन स वह बहू के पास जाती। पूछती 'बहू जी कसा ह ? मैं माथा दाब दू ?'

बहू एक शब्द म उत्तर देती, नही।

सास अपने खोखले उपद्रवी मन को बडे अकुश से दाबकर कहती,

"बहू, मुझे तो अब और कुछ काम नहीं है। ला, थोड़ा तेरा सिर दाब दूं, कुछ चैन ही पड़ेगा।"

पर, बहू का मन तो हर समय ऐसा खट्टा अनमना सा रहता है कि उसे कुछ नहीं भाता। हर समय सामने सूखी दीवार और आले में रखी हुई दवाई की शीशियों को देखते देखते अपने को और हर किसी को कोसते रहने में ही उसका मन इतना लगा रहता है कि और किसी चीज में उसे स्वाद ही नहीं रह गया है। वह नहीं समझ सकी कि वह किस प्रकार अपनी सास की उद्यत सेवाओं और उसके स्नेह-सतृष्ण मन का अङ्गीकार करे। वह इतना ही कह सकी, "मुझे कुछ नहीं चाहिए" और करवट लेकर सामने देखती हुई चुप पड़ गयी।

मां को कुछ नहीं सूझा कि वह क्या करे! वह बेहद कातर हो उठी। वह उस समय रोने को हो गयी। वह चाहने लगी कि उसे मालूम हो, उसने क्या कुकर्म किए हैं। क्या उसका भाग्य उससे इतना रूठा है। उसने बहुत बहुत चाहा कि वह इस छोटी सी उमर की बहू को अपनी गोद में लेकर प्यार कर ले, पर, उससे इतना बन नहीं सका, और वह भी चुपचाप मुंह उठाकर लौटती चली आयी।

लौटकर उसने क्या किया? या तो सोये हुए विपिन को जोर से पकड़कर छाती से लगा लिया और चूम लिया, विपिन रोने लगा और वह उसे मनाने में लग गयी। या, नहीं तो बकस उठाकर इसके कपड़े उसमें और उसके इसमें करने लगी। अथवा कमरे में जोर-जोर से झाड़ू ही देने लगी। और नहीं तो कमरे में आकर ऊपर छत की शहतीरों को देखती बैठ रही।

उसका अतृप्त विफल कुण्ठित मन ऐसे समय फिर किस असम्भव सम्भावना की ओर नहीं दौड़ता? सोचती—'वह इस घर को छोड़कर भाग जाय। यहां उसका क्या है?'—फिर सोचती—बाहर भागने से क्या बनेगा? क्या नहीं ऐसी आंख मूदकर सो जाय कि उठने की आवश्यकता ही निश्शेष हो जाय? फिर ये लोग जानें तो कि मुझमें भी जी था और मैं जीना भी चाहती थी। नहीं तो मैं मरना भी जानती थी।'

सोचते-सोचते एकाएक वह विपिन को देखने को अत्यन्त आतुर हो

करनी थी। जैसे इसके अभाव में उसे जीना ही दूभर हो जाता लगभग उसी तरह जैसे हवा के चारों ओर के अपरिमित दबाव के बीच में रहकर ही हम जी पाते हैं। वही दबाव चारों ओर से यदि लुप्त हो जाय तो हम क्षणभर न जी पायें।

बावन वर्ष की अवस्था में ऐन वह नारी अपने स्नेह हीन जीवन की लौ का क्षण क्षण जलाती हुई प्रकाशमान रूप में टिकी हुई थी।

३

एक साँझ को बासन माँजते माँजते अनायास बुढ़िया देख उठी कि बादल साधारण से अधिक नील श्याम होकर एक ओर इकट्ठे होते जा रहे हैं। शायद उनकी बरसने की इच्छा है। बयार हल्की हो गयी है और उसकी हिलोर में ठण्डक अधिक है।

बासन वह माँजती ही रही, पर गाने का गुनगुनाना उसका रुक गया। देखने लगी, पक्षी जैसे अधिक उल्लास से अपनी चोंचों को काले आकाश की ओर उठाकर उड़ रहे हैं और चककर काट रहे हैं।

देखते देखते एकाएक ही उसने फिर गीत गुनगुनाना आरम्भ कर दिया अनायास ही उसकी ध्वनि कुछ स्पष्ट हो उठी। उसने गाया। पर, गीत को एक साथ ही रोककर वह जैसे सावधान हो गयी और मनो योगपूर्वक बासन माँजने लगी।

निबटकर वह अपनी कोठरी में आयी। आज उसके भीतर क्या भूला हुआ छिड़ उठा है कि वह मूक हो गयी है। वह जैसे किसी दूरागत संगीत को सुनने में लगी है स्वयं सब-कुछ भूल बैठी है।

कुछ देर चुप बैठी रहकर उसने अपना एक बक्स खोला, तह-के-तह कपड़े उसमें से निकाले और नीचे से जन्मपत्री की तरह से लिपटा हुआ एक कागज निकाला। उस कागज को लेकर पढ़ने की जल्दी उसने नहीं की। जल्दी उसे किसी बात में, किसी काम में नहीं थी। उसने ठीक ढंग से कपड़े तहकर उसी बक्स में रखे और फिर वह चिट्ठी हाथों में लिए हथेली पर अपनी ठोडी रखकर खिड़की में से पार क्षितिज को देखती हुई बैठी रह गयी।

वह कागज क्या है? उसका वह क्या करेगी? फाड़ देगी? फेंक

उठती और यदि वह पास न होता तो वह पुकारती हुई दौड़ने लगती, "विपिन, विपिन!"

विपिन ही एक था जिसके कारण उसका यहां लगाव था। नहीं तो वर्तमान में न उसे कुछ लेन-देन था और न वास्तव से कुछ प्रयोजन ही। कल्पनाओं में वह अवास्तव को वास्तव बनाकर अपने सामने खड़ा करती और कुछ तृप्ति पाती और स्मृति द्वारा व्यतीत को फिर से प्रत्यक्ष बनाती और रस लेती।

यह था पर यह शून्य तृप्ति और सूखा रस जाने कितने महंगे मोल उसे मिलता था। जाने कितनी न कसक, कितनी न दुराशा, कितनी न छलना साथ-साथ उस मह‍ंगी होती थी। तब इसके लिए उसने आविष्कार करके सहज औषध पा ली : काम। काम में ही वह लगी रहती। कभी अपने को फुरसत न लेने देती। घड़ी आध-घड़ी जहां वह खाली रही कि चारों ओर से सोच विचारों से घिरकर घुटने-सी लगी, बस, इससे वह खाली ही नहीं रहती थी।

कुछ गुनगुन गाती हुई-सी वह काम में लगी रहती। किसी गीत का छोर उसकी याद में अटका था, वही हर काम के वक्त उसकी टेक बना रहता था। पर वह किसी को भी स्पष्ट न सुन पड़ता था और कभी उसकी ध्वनि गुनगुनाहट से ऊंची न होती थी।

मानामल को वह सम्भालती और मानामल की उपेक्षा भी उसे सम्भालती होती थी। मानामल ने जीवन के पहले रोज में ही उसे अपनी सेवा में पाया। इससे उसने मूल्य का भाव उसे नहीं हुई। मां की छांह सदा सहज रूप में उसके ऊपर छायी रही, धूप के नीचे खुले खड़े होने का उसे अवसर नहीं आया, इससे वह नहीं जान सका कि उस छांह में क्या है। फिर विपिन को भी वही सम्भालती थी। वह बीमार रह सकती थी, मानामल दुकान की और वह की सेवा में और सब बातों की ओर से लापरवाह रह सकते थे और विपिन खेलता-खाता और बढ़ रहा था। इसी लिए तो कि सबका बोझ चुपचाप अपने ऊपर लिए यह बुढ़िया जीती बैठी थी। इस बोझ ने उसको चारों ओर से कसकर ऐसा दबा रखा था कि उसे पता नहीं चलता था और वह जैसे अपने को और खुला हुआ अनुभव

करती थी। जैसे इसके अभाव में उसे जीना ही दूभर हो जाता, लगभग उसी तरह जैसे हवा के चारों ओर के अपरिमित दबाव के बीच में रहकर ही हम जी पाते हैं। वही दबाव चारों ओर से यदि लुप्त हो जाय तो हम क्षणभर न जी पायें।

बावन वर्ष की अवस्था में ऐन वह नारी अपने स्नेह हीन जीवन की लौ का क्षण क्षण जलाती हुई प्रकाशमान रूप में टिकी हुई थी।

३

एक साँझ को बासन माजते माजते अनायास बुढ़िया देख उठी कि बादल साधारण से अधिक नील श्याम होकर एक ओर इकट्ठे होते जा रहे हैं। शायद उनकी बरसने की इच्छा है। बयार हल्की हो गयी है और उसकी हिलोर में ठण्डक अधिक है।

बासन वह माजती ही रही, पर गाने का गुनगुनाना उसका रुक गया। देखने लगी, पक्षी जैसे अधिक उल्लास से अपनी चोंचों को नीले आकाश की ओर उठाकर उड़ रहे हैं और चक्कर काट रहे हैं।

देखते देखते एकाएक ही उसने फिर गीत गुनगुनाना आरम्भ कर दिया। अनायास ही उसकी ध्वनि कुछ स्पष्ट हो उठी। उसने गाया। पर, गीत को एक साथ ही रोककर वह जैसे सावधान हो गयी और मनो-योगपूर्वक बासन माजने लगी।

निबटकर वह अपनी कोठरी में आयी। आज उसके भीतर क्या भूला हुआ छिड़ उठा है, कि वह मूक हो गयी है। वह जैसे किसी दूरागत संगीत को सुनने में लगी है, स्वयं सब कुछ भूल बैठी है।

कुछ देर चुप बैठी रहकर उसने अपना एक बक्स खोला, तह-के-तह कपड़े उसमें से निकाले और नीचे से जन्मपत्री की तरह में लिपटा हुआ एक कागज निकाला। उस कागज को लेकर पढ़ने की जल्दी उसने नहीं की। जल्दी उसे किसी बात में किसी काम में नहीं थी। उसने ठीक ढंग से कपड़े तहकर उसी बक्स में रखे और फिर वह चिट्ठी हाथों में लिए हथेली पर अपनी ठोडी रखकर खिड़की में से पार क्षितिज को देखती हुई बैठी रह गयी।

वह कागज क्या है? उसका वह क्या करेगी? फाड़ देगी? फेंक

देगी? उससे वह क्या करना चाहती है? और उस क्या या हाथों में लिए चुप बैठी है?

पर वह बैठी ही रही। कुछ देर बाद उसने उसे खोला। खोलते खोलते अन्त में उसमें एक बहुत छोटा-सा पीले कागज का टुकड़ा निकला जिसमें पेंसिल से कुछ लिखा था। उसे भी उसने पढ़ा नहीं और उस टुकड़े को फिर हाथों में लिए रहकर वह उसी भाँति बैठी रही।

बैठी-बैठी ही वह कहाँ पहुँच गयी, क्या हो गयी? इस टुकड़े को हाथ में थामे बाल और देश की समस्त रेखाओं के ऊपर वह इस समय क्या हो उठी है कि उसका निमिष नहीं लगता और उसके चेहरे में चमक आती जा रही है।

उसने अनुभव किया कि यह पीला कागज उसके हाथों में अभी हाल आया है, अभी किसी ने कंकड़ी में बाँधकर खिड़की की राह उसके चरणों में फेंक दिया है और अभी वह उन पटकर चुकी है।

धीरे धीरे उसने कागज खोला। खोलकर पढ़ा। क्या पढ़ा? क्या छत्तीस बरस पुराने उस कागज पर के पेंसिल के हरफ पढ़ने में आ सकते थे? पर उसने पढ़ लिया।

पत्र के अक्षर उसके मन के भीतर एक एक अङ्कित थे। पुराने घाव की तरह उघड़कर वे हरे हो गये। उनके उत्तर में आज वह जैसे समग्र-की समग्र उद्यत हुई प्रस्तुत बैठी है। 'प्यारी तैयार रहना'—और आज उसका मन 'प्यारी शब्द' सुनकर किस बात के लिए तैयार नहीं है?

उसने पाया मंगल की रात है, एक बज गया होगा चाँदनी अभी निकली है और वह घर की चौथी मंजिलवाले सूने कोठे पर दबे पाँव पहुँच गयी है। वहाँ ही आ पहुँचा वह जिसके लिए वह है और जिसने उसे तैयार रहने के लिए लिखा है।

आते ही उसने कहा 'देर न करो चलो।'

रानी ने उसे कसकर पकड़ लिया। कहा 'चलूँ? मेरी सगाई हो गयी है। मुझे डर लगता है।'

'डर लगता है?

मैं कैसे चलूँ?

"क्या ?"

उस समय उसके मन मे आया—'अरे, वह प्रेम के लिए क्या नही कर सकेगा।' पर उसका गला भर उठा और उसने चिपटकर कहा, 'मुझे भूल जाओ।"

व्यक्ति ने धीरे से उसे अपने से पृथक किया। कहा "तो नही जा सकोगी ?"

"नही जा सकूगी। कैसे जा सकूगी, मुझे तुम भूल जाओ।"

व्यक्ति तुरन्त न बोल सका। फिर इतना ही बोला "तो नही ही जा सकोगी ?"

तब मानो जोर के साथ उसने अपने से ही कहा था, "क्या, मैं अपनी हूं ? मैं जा सकती हू ?—नहीं, मेरी सगाई हो गयी है।"

मानो किसी गहरी चोट के स्थल पर छिड़ककर उस व्यक्ति ने कहा, "तुम अपनी नही हो, तो मेरी भी नही हो ? उसकी नही हो जो तुम्हारे लिए जीता है, और तुम्हारे लिए मरेगा ? तुम उसकी हो जो तुम्हें नही जानना चाहता, नही पाना चाहता, पाने के लिए कुछ करना नही चाहता, पर सगाई जिसके नाम के साथ हुई है ? प्राणो के मोल तुम्हें जो पाना चाहता है, उस प्रेम की तुम नही हो ? गृहस्थी के और बच्चो के लिए जो तुम्हें ले लेगा उस विवाह की तुम हो, क्या ?"

तब सरला ने क्या कहा ? तब जो उसने कहा, किया, अब यहां बावन वर्ष की अवस्था में बैठी हुई सरला मानो वह नहीं करना चाहती। चाहती है वह उसका कहा हुआ, किया हुआ, फिर जाता और इतिहास नया आरम्भ होता।

उसने तब दोहरा दिया था, 'प्रेम !' और वह अपने ही व्यंग से सहमी-सी रह गयी थी।

उस व्यक्ति ने चीखकर कहा, "क्या ?"

इस व्यथा की चीख को सुनकर वह गल जाने को हो गयी, पर चुप रही।

व्यक्ति ने गरजकर कहा, "तू क्या चाहती है कि मैं मर जाऊं और तू यों ही रहे ? मैं तेरे बिना नहीं जीऊंगा, और मन्ना तो तुझे भी जीता नहीं

छोड़ूंगा।"

उस समय जिस उद्वेग और कम्पन और पुलक का सरला ने अनुभव किया था वही मानो उसके गात में अब भी हो उठा। वह मानो अब भी खिड़की में से उसके आ जाने की प्रतीक्षा कर रही है जो कहे, 'तेरे बिना मैं जीऊंगा नहीं, और उसके आगे कहे, 'तेरे लिए मरूंगा और तुझे भी जीता नहीं छोड़ूंगा।'

पर सरला ने तब कहा था, 'मैं हाथ जोड़ती हूं, जोर से मत बोलो, कोई जग जायेगा। और तुम चले जाओ।'

व्यक्ति ने भयंकर धैर्य के साथ कहा, 'मैं चला जाऊं?"

सरला डरती हुई उसे देखने लगी।

पर धीरज रहा नहीं और वह बोला, "कम्बख्त, तू कहती है मैं चला जाऊं? जाऊंगा और तुझे मिटा के जाऊंगा।'

उस समय सरला के मन में भय हो उठा था। आज वह सोच रही है कि वह आत्म-समर्पणपूर्वक अपने प्रेमी के हाथों मर क्यों नहीं आ सकी। वह भयभीत हो कुछ भी नहीं बोल सकी थी।

उस व्यक्ति ने तब अलग खड़े होकर कहा, 'बोल तू जीना चाहती है? या मरने की हिम्मत भी रखती है?'

सरला ने तब क्या हाथ फैलाकर और छाती खोलकर नहीं कहा, 'मुझे गोद में ले लो प्यारे, और मुझे मार दो। मैं जीना नहीं चाहती।" हाय क्या नहीं तब वह यह कर सकी क्यों भीता चकिता-सी गुम हो बैठी रही।

व्यक्ति ने अत्यन्त विषाद घृणा और करुणा के स्वर में कहा, 'तू जीना चाहती है। अभागिन ओछी नारी तू जी।'

इसके बाद उस व्यक्ति ने अपने दोनों हाथों में उसे ले लिया। कुछ देर उसकी आंखों में आंख लगाये देखता रहा। वह उस समय डर रही थी।

पुरुष ने कहा, 'डरती हो! नहीं डरो नहीं।"

कहकर उसने उसे छोड़ दिया। फिर बिना पीछे की ओर देखे मुंडेर पर चढ़ वह तीन मंजिल नीचे उस गली की ईंटों पर गिरकर मर गया!

वह आज बैठी-बैठी उस कागज को हाथ मे लेकर उसी मरे व्यक्ति को देखने लगी जो उसके लिए ऐसी साध से जिया था और जो उसके लिए क्षण म मर भी गया। वह पाप पुण्य नही जानती। वह इतना जानती है कि वह क्षण उसके जीवन मे फिर आ सके तो वह अपने को मौत से न बचाय और वह उस व्यक्ति क साथ मौत के मुह म ही चाह हो कृतार्थ भाव म चली जाय।

इस स्मृति के साथ ही अपने विफल यौवन को मानो फिर से अपने भीतर ऐसी तरगें लेता हुआ अनुभव करती ह कि मृत्यु अपनी विभीषिका मे भी प्रिय और तुच्छ वस्तु हो रहती है।

उस दीख उठा—वही वही एक छोटा सा अपराध करके सामने मुस्कराता हुआ खडा है और क्षमा माग रहा है। और, वह अपने मान मे विरक्त बडी बिगडी हुई है।

उसने कहा, 'रानी तुम नाराज हो रही हो ? जानती हो, इससे तुम कितनी और सुदर नही हो जाती ?"

तब मन-ही मन वह गव म भर उठी, बोली 'चुप रहो।"

उसने कहा, 'तो मुझे सजा ही दे दो।"

तब भी उसने कहा, 'चुप रहो।"

उस पर वह उसके पैरो को पकडकर चूमने लगा।

उस समय अदभुत भाव मे उद्वेलित हो वह सहसा उठकर खडी हो गयी। उसे लगा उसके पैर चूमे जा रहे हैं और वह अपने पैर हटा नही रही है जैसे कि उसने तब भी नही हटाये थ।

तभी क्या देखती है कि एक व्यक्ति उसके सामने आकर कह रहा है, "मा ।'

वह कुछ नही पहचान सकी। देखकर उसे यही बोध हुआ कि वह उसका प्रेमी नही है। फिर यह क्या है जो उसे 'मा' कहकर पुकार रहा है ? उसको जो अविवाहिता है किशोरी है।

भानामल ने कहा, मा, शशि की दवा तुमने तयार करके अभी क्यो नही दी ?"

वह देखती ही रह गयी, कुछ समझ नही पायी।

इतने में विपिन ने आकर कहा, "दादी !

"दादी !"—वह स्तम्भित, मानो विडम्बना में, मग्न रह गयी।

तभी, क्षण बीतते बीतते एकाएक यथार्थता का बोध उस पर फटकर पड़ा। वह खोई-सी रही। फिर—फिर अत्यन्त विनीत स्वर में उसने कहा, "दवाई ! अभी बनाये देती हूं बेटा, दवाई।"

भानामल ने चलते-चलते कहा, "मां दवा के मामले में अब से लापरवाही नहीं होनी चाहिए।"

मां ने कहा "अच्छा बेटा।"

और मां ने सोचा—एक मिनट खाट पर मैं जरा और बैठ लूं तो दवा में बहुत देर तो नहीं हो जायेगा ?" पर, वह बैठी नहीं, दवाई के लिए चल दी।

पूर्ववृत्त

अदालत में आज बड़ी भीड़ है। अखबारों में इसकी खूब चर्चा है। मामला यह है कि प्रशान्त का कहना है कि शान्ति उसकी विवाहिता है। और शान्ति का दावा है कि यह सब उसके पिता से पैसा ऐंठने का उपाय है। उसने अखबार में यह छपाकर कि मेरा उससे विवाह हुआ है, मुझे बदनाम करने की कोशिश की है।

दावा शान्ति की ओर से है। प्रशान्त के साथ दूसरा अभियुक्त अखबार का सम्पादक है जिसने यह खबर छापी है।

सम्पादक ने कहा कि प्रशान्त ने खुद उसको रिपोर्ट दी थी। प्रशान्त को मैं तीन वर्ष से जानता हूं। कोई वजह नहीं कि मैं उसकी रिपोर्ट झूठ समझता। वह मौतबिर आदमी है, ग्रेजुएट है, और मेरे अखबार में अक्सर लेख-कविताएं लिखता है। मैं निजी बातें अक्सर नहीं छापता, लेकिन मुझे बताया गया कि लड़की के पिता जबरन उसकी शादी करना चाहते हैं। यह नामुनासिब है। ऐसी अनीति को रोकने के लिए अखबार न हों तो दूसरा क्या हो? इस ख्याल से मैंने खबर छापी थी। उस वक्त मैं वैसा करना सही और मुनासिब मानता था। लेकिन अगर वह बात गलत है और मुद्दई को सदमा पहुंचा है, तो मुझे उस पर अफसोस है।

प्रशान्त ने अदालत में पत्र पेश किये कि मैं अध्यापक हूं। मेरी संस्था थी और उसमें पढ़ने आया करती थी। पढ़ने से अधिक पढ़ाने आया करती थी। नहीं, वेतन नहीं लेती थी। फीस, हां, देती थी, उसका मुझसे प्रेम हुआ

शान्ति ने इस पर अपने स्थान से कुछ कहा, जिसे ठीक तरह नहीं सुना जा सका।

उस पर प्रशान्त कुछ उत्तर देने को था। लेकिन अदालत ने सबको चुप किया। और प्रशान्त को अपना बयान जारी रखने को कहा।

प्रशान्त ने कहा, "मैं प्रेम के लिए अपने को दोष नही दे सकता। प्रेम उससे नही आरम्भ हुआ यह कहना कठिन है। मेरी अवस्था पैंतीस वर्ष है। पत्नी है, बारह वर्ष की एक कन्या है। अदालत में जो पत्र हैं लड़की ने स्वयं लिखे है।"

पूछा गया, "उनसे तुम क्या सिद्ध करना चाहते हो? प्रेम नही, विवाह साबित करना है।"

उत्तर में उसने कहा, "उन पत्रों से मेरे प्रति उसकी भावना का पता चल सकता है।"

आगे प्रशान्त ने अपना बयान जारी रखते हुए कहा, "प्रेम एक छल हो सकता है। मैं इतना युवक नही हूँ कि इस बात को न समझूँ। फिर भी मैं उसका निरादर नही कर सकता। मेरा विवाहित जीवन सुन्दर नही है। आरम्भ शायद हममें सहानुभूति से हुआ मैंने अपने घर की हालत बतलायी। अपने स्वप्न बतलाये। मैंने कहा कि मुझको समझने वाला जीवन संगी कोई होता तो मैं कितनी न उन्नति करता। सहानुभूति की माँग जीवन में स्वाभाविक है। युवावस्था में सहानुभूति सुलभ भी है। वही शायद सघन होकर प्रेम में परिणत हो गयी। पत्रों में आप देख सकते हैं कि प्रेम के स्थायी होने की शपथें हैं। मैंने सुझाया कि प्रेम स्वयं पवित्र है। पर विवाह से वह धन्य हो जाता है। वह विवाह के लिए भी राजी हुई। लेकिन उसने कहा कि माता पिता इसमें साथ नही देंगे, क्या हममें प्रेम ही काफी नही है? और मन में तब वह माता पिता और समाज से डर रही थी। मैंने कहा कि भय उचित नहीं और विवाह होना जरूरी है। मैं विवाह को अन्तिम तो नही मानता, पर मन की रोकथाम के लिए एक मर्यादा अच्छी है। व्यवस्था में भी उससे सुभीता होता है। नही, यह गलत है कि मेरी निगाह इसके पिता के पैसे पर थी। समझौते के लिए उनकी ओर से पैसे की बात एक से अधिक बार आयी। मैंने कभी स्वीकार नही किया। खैर, मैं इस बात पर राजी हुआ कि विवाह विधिवत् हो, हम लोग एकान्त भगवान् को साक्षी कर एक-दूसरे का हाथ थाम लें। वैसा ही हुआ। हम अब सम्मिलित रहने का उपाय सोच रहे थे। लेकिन अचानक यह मामला आ गया है। मेरा विश्वास है कि

लड़की अपनी ओर से कुछ नही कह रही है। सब माता पिता के दबाव से किया जा रहा है। उसे इसके लिए मारा पीटा तक गया है। मैं जानता हूं कि अगर वह अपने मन की बात कह सके तो आप पायेंगे कि मैंने अपने बयान मे कोई अत्युक्ति नही की है।"

प्रशान्त के बयान के बीच बीच मे लोग ताना कसते और हँसते थे। और इस्तगासे के वकील की जिरह मे प्रशान्त झेंपकर लाल पड़ आया। उसमे इस तरह के भी सवाल थे कि उसे क्या तुम अपने को खूबसूरत नौजवान समझते हो ? क्या अमुक जगह मे तुम्हें इत्यादि।

इसके बाद सफाई के वकील ने शान्ति से पूछताछ की। उसमे जो जवाब मे कहा, यह है—

'मैं अभियुक्त को एक बरस से जानती हूं। मेरी एक सहेली ने इसके स्कूल का पता दिया था। हां, यह मेरे हैं। यह प्रेम पत्र नही हैं। प्रेम इनके लिए मुझमे नही हो सकता। जो विवाह कर एक से मुह मोड़ लेता है, वह दूसरी से प्रेम निभायेगा इसका विश्वास नही है। मैं यह बात शुरू से जानती थी। इनकी सस्था मे पढ़ती थी, इससे इन्हे नाखुश नही कर सकती थी। इसलिए यह पत्र लिखे गए हैं। सिरे से ही जब यह पत्र बनावटी हैं, तो उनमे खूब बढ़ी चढ़ी भाषा लिखी गयी हो तो उसमे अचरज क्या है ? विवाह की बात सरासर झूठ है। यह इसीसे जाहिर है कि मैंने विवाह की इस विधि से इन्हें विमुख किया। भगवान की साक्षी मे आपस मे हाथ-पकड़ने की बात भी इनको बहलाने को हुई है। मुझे परीक्षा पास करनी थी। मेरा अब इनसे कोई वास्ता नही है। मैं इनसे नफरत करती हूं।"

प्रशान्त ने अपनी जगह से चिल्लाकर कहा, "शान्ति, नफरत करती हो ?'

इस पर कमरे मे कुछ गड़बड़ी मची और अदालत ने व्यवस्था स्थापित की—

शान्ति ने बिना उस ओर ध्यान दिये कहना जारी रखा—"नफरत करना अच्छा नहीं है। यह मेरे मास्टर हैं। मैं समझती थी कि यह दुखी हैं। कुछ अपने स्वार्थ से और कुछ दया से मैं इनका मन रखती रही। पर नहीं जानती थी कि यह इतने मूर्ख निकलेंगे।"

'धूर्त' शब्द पर सफाई के वकील ने आपत्ति की। और एक दस्तावेज सामने किया। कहा, "मेरा मुवक्किल इस बात को इस हद तक नहीं लाना चाहता था। यही उसकी नेकनीयती का सबूत है। लेकिन जैसा कि इस दस्तावेज से जाहिर होता है, शादी गवाहों के सामने बाकायदा की गया थी। मुवक्किल दस्तावेज जान-बूझकर इसलिए पीछे रखना चाहता था कि मुद्दई का सभ्रम न पहुंचे और बिना इसकी जरूरत पड़े वह सब कबूल लें। 'धूर्त' शब्द वापस लिया जाना चाहिए।"

शान्ति ने कहा "यह दस्तावेज आ गया है तब तो मैं 'धूर्त' शब्द को और भी वापिस नहीं ले सकती। वह काम धूर्त ही कर सकते हैं।"

लोगों ने इस बात में बहुत दिलचस्पी ली, यहां तक कि शोर मच आया। अदालत ने शान्ति स्थापित की। अनन्तर उस दस्तावेज को लेकर शान्ति से जिरह की गयी। जिरह में शान्ति हटती-सी मालूम हुई। उसने पहले कहा कि उसके दस्तखत बनावटी हैं। फिर कहा, "हो सकता है किसी कोरे कागज पर दस्तखत किये हों। लेकिन पंडित के हाथ शादी होने की बात सच नहीं है। फिर मन नहीं तो वह शादी क्या? यह धूर्तता है कि यह दस्तावेज सामने लाते हैं। इन्होंने वायदा किया था कि कभी इसका इस्तेमाल न होगा। कभी यह किसी को दिखाया न जायगा। दस्तखत, हां मेरे हैं लेकिन यह आदमी कमीना है।"

शान्ति इधर उधर की कहने लगी थी। उस प्रलाप से साफ था कि दस्तावेज पर हस्ताक्षर उसके हैं। और कागज से प्रमाणित था कि विधिवत् पण्डित ने दो साक्षियों के समक्ष इनका विवाह कराया है।

शान्ति ने कहा, "दस्तखत होने पर भी, दस्तावेज झूठे हैं और मैं हरगिज इनके साथ नहीं रह सकती।"

सफाई के वकील ने अपना सारा जोर दस्तावेज पर डाल दिया और उसके सिलसिले में गवाहियों के लिए केस की अगली तारीख दी गयी।

अदालत उठते समय शान्ति अस्थिर थी और प्रशान्त का मुंह नीचे झुका हुआ था। वह किसी ओर देख नहीं रहा था।

प्रशान्त ने बहुत चेष्टा की पर शान्ति से मिलना सम्भव न हुआ। न सन्देश भेजा जा सका।

शान्ति अब मानो पहरे में रहती थी। बाहर लोगों में उसकी चर्चा थी और पिता बहुत परेशान थे। प्रशान्त को समझाने या दबाने के सब प्रयत्न निष्फल जा चुके थे। अब वह भी सोच बैठे थे कि इज्जत तो गयी ही तो बात को बीच में न छोड़ेंगे। राह न मिलने पर शान्ति को वह दो एक बार पीट भी चुके हैं।

स्थानीय पत्रों की सहानुभूति शान्ति की ओर थी। पर बात का जग-जाहिर होना उन्हें अखरता था। तो भी उन्हें विचार होता था कि शायद इस प्रकार की ख्याति में से ही लड़की के भविष्य का कोई मार्ग निकल आये।

ऐसे ही समय एक सार्वजनिक पत्र के सम्पादक उनके पास आये। उन्होंने कहा कि वह उसकी कन्या की दृढ़ता से प्रभावित हैं। और उससे स्वयं मिलकर वातावरण को साफ करने में मदद देना चाहते हैं। उन्होंने बहुत समझाया तो पिता मुलाकात के लिए राजी हो गये।

शान्ति विस्मय में हो आयी, जब देखा कि सम्पादक के नाम पर प्रशान्त के मित्र देवचन्द्र उसके सामने उपस्थित हैं। पर इसका आभास उसने किसी को नहीं दिया।

पिता ने कहा, "आप पन्द्रह मिनट ही चाहते हैं न ?" यह कहकर वह वहां से हट गये।

देवचन्द्र ने कहा, "शान्ति, तुम्हारे मन की बात पूछने प्रशान्त ने मुझे भेजा है।"

शान्ति ने कहा 'वह मेरी ख्वारी काफी कर चुके, अभी और बाकी है ?"

देवचन्द्र ने कहा, "शान्ति, उसने क्या किया है ?"

शान्ति, "नहीं, सब मैंने ही किया है !"

अब तुम क्या चाहती हो, शान्ति ? प्रशान्त ने तुम्हारे मन की बात जानने को मुझे भेजा है। वही वह करेगा।"

शान्ति ने कहा 'मुझे क्या अब कहीं जीती रहने लायक उन्होंने छोड़ा है। उनको इतनी शर्म नहीं कि मैं दावा कर रही हूं तो चुप रहें ?"

देवचन्द्र ने कहा, "तुम चाहती हो कि दोषी बनकर वह चुपचाप जेल

चला जाय ? वह आप तो अदालत नहीं आया, घसीटा गया है तो सफाई भी न दे ?"

शान्ति—"मेरे लिए वे जेल नहीं जा सकते ?"

देवचन्द्र ने विस्मय से कहा, "उसे जेल भेजकर तुम क्या पाओगी ?"

शान्ति ने कहा, 'तब सुभीता होगा और पिता मेरी शादी कर सकेंगे। बाहर रहकर वह यह न करने देंगे।"

"क्या कह रही हो शान्ति, क्या तुम यही चाहती हो ?"

"हां, चाहती हू कि जो होनहार हो, वह मुझ पर से हो जाय। वह क्या इतना नहीं समझ सकते ? मैंने पहले भी उन्हें समझाना चाहा। नहीं समझे तो अब अदालत की नौबत आ गयी है। मैं अपने वश की नहीं हू। नारी धर्म में स्वतन्त्र कुछ नहीं होता। पिता जब तक पति को सौंपे, कन्या तब तक उसकी। सुनते हो ? कुछ और नहीं हो सकता, इससे अब यही है कि मेरी खैर चाहते हैं तो वह जेल चले जाय।"

"शान्ति, लेकिन उसके साथ एक और बेगुनाह आदमी—"

शान्ति ने कहा, "उसका कुछ न बिगड़ेगा।"

देवचन्द्र ने घड़ी की ओर देखा। समय जा रहा था। उसने जेब में हाथ डाला पर शान्ति की आंखों में इनकार का इशारा देखकर वह हाथ उसने खींच लिया। वह समझता था कि कहीं अदृश्य से दो आंखें उन्हें देख रही हैं। उसने धीरे से कहा देखो, मैं मित्र की ओर से अन्तिम बार तुमसे कह रहा हू। वह तुम्हें, तुम्हीं साफ-साफ न कहो, तब तक नहीं छोड़ सकता। तुम्हारे बिना उसे सब सूना है। दूसरी बात यह कि जो तुम कहोगी, वही वह करेगा। तुम कह दो कि मन से उसे नहीं चाहती हो, दूसरा विवाह चाहती हो तो वह आपत्ति न करेगा। वह जो-कुछ कर रहा है इस विश्वास पर कि तुम्हारा मन उसी की तरफ है, माता पिता के दबाव में जाहिर में फिर कुछ भी करो—अगर ऐसा नहीं है तो कहने भर की देर है कि—"

शान्ति—'मन की बात वृथा है। उन्हें कह देना कि मन पर दावा नहीं होता। और मेरी मानें तो अदालत की सजा ले लें और जाकर जेल में बैठें।"

देवचन्द्र ने कहा, "एक यही उपाय है ?"

शान्ति ने कहा, "नहीं, दूसरा भी है। वह यह कि साबित कर दें कि मैं उनकी हूं और अदालत के जोर से मां-बाप से मुझे छीन ले जायं। पहला सज्जन का है, दूसरा दुर्जन का। अब वह अपनी ओर देखकर चुन लें।"

देवचन्द्र ने कहा, "शान्ति, तुम जानती हो कि तुम्हारा सम्बन्ध—

शान्ति ने बीच में कहा, "उसी सम्बन्ध के बल पर न उन्होंने मुझे व्यभिचारिणी प्रसिद्ध कर छोड़ा। मुझे मंजूर है। मेरी कुछ इज्जत बची है कि कहीं रह सकूं ? तुम्हारे मित्र को शर्म तो नहीं आयी कि पत्र अदालत में पढ़वाते ? मेरी मानो तो उन्हें कह देना—मेरा होना था सो हो गया, पर भला चाहें तो दंड से बचें नहीं।"

देवचन्द्र ने कहा, "शान्ति, अन्याय न करो। उसके दुःख को तुम नहीं जानतीं। दुनिया उसके नाम को थूकती है। रोजी उसकी गयी, अपने पराये हो गये। मां तक ने छोड़ दिया। पत्नी तो उसकी थी कब ? एक इसी आशा का उसे सहारा था कि तुम उसे मानती हो। पर जो तुम भी नहीं मानतीं तो उसके लिए सब खतम है।"

शान्ति ने क्रोध में कहा, "हां, मेरे पास कुछ नहीं है जो नष्ट नहीं हो गया। अब उन्हीं से पूछना कि क्या बचा है जिसे धूल में मिलाना और जरूरी है।"

देवचन्द्र कुछ कहना चाहते थे कि शान्ति ने संकेत किया। कोई आ रहा था। तब साधारण भाव से उन्होंने कहा, "तो विवाह के सम्बन्ध में आप माता पिता को पूर्ण अधिकारी मानती हैं और उनकी बिना अनुमति विवाह को जायज नहीं मान सकतीं ?"

"हां, यदि माता पिता चाहें तो कन्या को झुकना चाहिए।"

इतने में शान्ति के पिता वहां आये। और उन्होंने यह सुना। बोले, "आपने देख लिया न कि सब उसी आदमी की धूर्तता है।"

देवचन्द्र ने कुछ हां-ना न किया, उठकर उनका आभार माना और वहां से चले आये।

आकर प्रशान्त से सब कह सुनाया। प्रशान्त उस समय सोच में था।

सुनकर और भी सोच मे हो गया।

कुछ देर रुककर सहसा उसने कहा, "मैं पहेली सुलझा नही पाता हू, देवचन्द्र ! तुम बता सकते हो, मैने कहां भूल की ?"

"नही मैं नही बता सकता।"

"तो वह चाहती है, मैं सजा से लू—तुम्हारी क्या राय है ?"

"मेरी राय ? मेरी राय है कि तन से ऊपर तुम्हें मन की कीमत हो तो उसकी कद्री रखो।"

"वह चाहती है—"

"त्रास पाना और त्रास देना।"

प्रशान्त गम्भीर हो गया। बोला, "देवचन्द्र, मानता हू मैं कि युग बदल रहा है। मैंने विवाहपूर्वक ही प्रेम को जो स्वीकारना चाहा, उसीका न यह फल है ? देवचन्द्र, वह लडकी एकदम पुश्चली है।"

देवचन्द्र ने कहा "मित्र, तुम्हारा मस्तक ठिकाने नही है।"

प्रशान्त ने उत्तेजित होकर कहा, "हा, शायद नही है। पर यह नहीं सहा जा सकता कि एक के साथ सम्बन्ध होने पर स्त्री अपना धर्म न निबाहे। शान्ति के बारे मे और भी यह नही सहा जा सकता। यह अनीति नही होने पायेगी, देवचन्द्र ! माता पिता को क्या इतनी हया शर्म नही है ?"

देवचन्द्र ने कहा, 'अब मैं समझा कि भूल कहा है ? यही है कि दूसरे का न्याय तुम अपने हाथ मे लेते हो। शान्ति के चरित्र की रक्षा के नीचे कही तुम अपनी ही कामना को तो नही चाहते हो ? शायद यही है जिसने शान्ति को भडका दिया है !"

प्रशान्त न भवें सिकोडकर कहा, 'क्या मतलब ?"

देवचन्द्र ने हँसकर कहा, 'स्त्री पर जाने दो, कुछ नही।"

प्रशान्त ने कहा, स्त्री के शील की हमारे यहां मर्यादा है। उसी पर हमारी संस्कृति और हमारे समाज का विधान खडा है। वही डिगेगा तो हमारे पास रह क्या जायगा ? नहीं, वह न हो पायगा, देवचन्द्र !"

देवचन्द्र आंखें फाड़े प्रशान्त की ओर देखता रह गया। मित्र में

संस्कृति के प्रति ऐसी उत्कटता समय-समय पर उठती उसने देखी है। लेकिन यह अवसर उसे अनुकूल मालूम हुआ। उसने कहा 'प्रशान्त आज तुम्हें हो क्या रहा है? पत्नी रहते दूसरे से प्रणय और परिणय रचाते हो, तिस पर शील और मर्यादा की बात कहते हो। स्वार्थ को कहीं विवेक की भाषा पहनाकर तो बात नहीं कर रहे हो?"

प्रशान्त ने कहा, "शास्त्रों ने पुरुष को एकाधिक विवाह की अनुमति दी है।"

देवचन्द्र ने कहा, "शास्त्रों में जो खोजो, पाओगे। कामधेनु है इसीसे वे शास्त्र हैं। पर शान्ति को तुम क्या समझते हो?"

"क्या समझूं? अब तो समझना होगा कि वह कुटिल है।'

देवचन्द्र ने कहा, "सुनो प्रशान्त तुम मेरे सामने उसको कोई अपशब्द नहीं कह सकते। सुनते हो?"

सुनकर प्रशान्त देखता रह गया। कहा, "क्या?'

कहने के बाद देवचन्द्र के देखते देखते एक व्यंग्यपूर्ण मुस्कराहट में उसका चेहरा विगड़ आया।

देवचन्द्र ने कहा, "तुम अपनी निराश कामना में से उसे ठीक देख सकते हो, प्रशान्त?"

प्रशान्त ने कहा, "तो भी कुछ कुछ देख सकता हूं।"

उस बात में भरे व्यंग्य पर विस्मय से देवचन्द्र पुकार उठा 'प्रशान्त!"

देवचन्द्र के मुख पर व्यथा देखकर प्रशान्त कुछ प्रकृतिस्थ हुआ और कहा, "तो मैं क्या करूं, बताओ!"

देवचन्द्र ने कहा, "वर्तमान की ओर न भविष्य के प्रति दावा न जताओ। मैं होता तो उसकी मर्जी में अपने को छोड़ देता। प्रेम मिला वहां से त्रास भी उसी कृतार्थ भाव से लेता।"

प्रशान्त ने मौलिक होकर कहा देवचन्द्र सच कहो तुम मेरे मित्र हो?'

देवचन्द्र ने कहा, "हां यह मेरी बात मित्रता की नम्रता, सत्यता की है। शान्ति परेशान है। एक तरफ माता पिता उसे नहीं समझते दूसरी तरफ तुम उसे समझना नहीं चाहते। दो पाटों के बीच उसकी जान क्यों

पीस रहे हो ? माता पिता के प्रति शान्ति उद्धत नही होना चाहती। तुम उसके त्रास को ले नही सकते। फिर बलिदान ही तो उपाय है। उसी ओर वह चल रही है। यह बात समझ लोगे तो फिर रोष नही कर सकोगे।'

प्रशान्त मित्र की बात नही सुन रहा था। वह दूर चला गया था। बल्कि उसे देवचन्द्र का बोलना बुरा मालूम हो रहा था। शब्द उसे शोर मालूम होते थे। उसने कहा, "देवचन्द्र, तुम नहीं जानते, मुझे आठ दिन से नींद नही आयी। रात दिन वही एक बात घूमती रहती है। यह सच नही है कि मेरी तकलीफ शान्ति को नही मिलती, पर यह सच है कि वह भी कष्ट मे है। तुम बहुत जानते हो, पर क्या तुमने सहा है ? जो मैं सह रहा हू, उसका सौवा हिस्सा भी सहा है ?'

देवचन्द्र ने कहा, "कहना सहने का लक्षण नही है, प्रशान्त। लो, मैं चला।"

'देवचन्द्र, नाराज न होना। मेरा मन ठीक नही है। तो मेरी चिट्ठी उसने तुम्हारे सामने नही खोली ? नहीं पढी ? देवचन्द्र, मुझे विश्वास दिला सकते हो कि तुम मेरे मित्र हो ?"

देवचन्द्र ने कहा "प्रशान्त वृथा अपने को कष्ट न दो।"

प्रशान्त ने कहा, 'सुनो देवचन्द्र, मैंने सब तुम्हे नही बताया है। नौकरी गयी ही। २०००) रुपये मैं मां का बक्स तोड़कर चुरा लाया हूं। करीब ४००) स्त्री के जेवर बेचकर बना लिए है। इतना ही सूद पर कर्ज मिल गया है। यह सब मुकद्दमे के लिए। मेरे लिए यह जान की बाजी है। लेकिन देवचन्द्र, मन अब बैठ रहा है। मेरा यह विश्वास छिन रहा है कि वह मुझे चाहती है। तब सब फिजूल है। मन का दुःख क्या दूसरे के मन की चोट से भरेगा ? देवचन्द्र, आदमी ऐसा ही करता है दुःख को दुःख पहुंचाकर धोना चाहता है। रोज सोच रहा हूं, देवचन्द्र। देख रहा हूं कि यह आदमी का धोखा है। मेरी चिट्ठी का जवाब मिल जाता तो सब तय हो जाता। वह मन की बात सीधी मुझ से कहती क्यों नही ? जैसे मैं सब कुछ नही देखता। देवचन्द्र, मेरी कमक यही है।

देवचन्द्र सुनता हुआ चुप रह गया। उसके मन मे शान्ति की मूर्ति घूम

आयी। पर उसे लगा कि वह इस प्रशान्त के अतिरिक्त किसी की नहीं हो सकेगी। प्रशान्त यदि सब सहेगा तो शान्ति कहीं रहे, उसी की होकर रहेगी।

देवचन्द्र के जाने के बाद डाक से प्रशान्त को अपने पत्र का उत्तर मिला। लिखा था—

"प्रिय,

मैं बहुत नाराज हूँ। अपनी रखो तो तुम्हें कसम है जो कुछ बाकी छोड़ो। मैं भी देखती हूँ तब तुम क्या कर लोगे। मेरी रख सको तो अदालत में झूठ बोलकर मुझे और मेरे कुल को बचाना तुम्हारा धर्म है।

तुम्हारी—
शान्ति"

अगली पेशी के दिन अदालत में सनसनी फैल गयी, जब प्रशान्त ने कहा कि वह अपराध स्वीकार करता है।

प्रशान्त ने शान्त भाव से कहना जारी रखा, "मैं स्वीकार करता हूँ कि मैंने झूठ खबर अखबार में छपवायी। सम्पादक का दोष नहीं, क्योंकि मैंने कहा खबर सच्ची है और मैंने जोर दिया कि इसे छापना सार्वजनिक हित में होगा। मेरे मन में मुद्दई को तङ्ग करने, बदनाम करने और मुमकिन हो तो इस तरह उसके बाप से रुपया वसूल करने की नीयत थी। मेरा पहला बयान सच न था। और दस्तावेज भी बनावटी है। पानी—"

गिलास से पानी पीकर कहा, "मुझे दुःख है कि मेरे कारण एक सम्भ्रान्त कुमारी की बदनामी हुई और जिस सजा के लायक मुझे समझा जाय, मैं तैयार हूँ।"

शान्ति अपनी जगह कुर्सी पर बैठी थी। वह अपने पैर के अगूठे से खुरचे जाते फर्श को देख रही थी। वहाँ से हिली न डुली। सबसे बचकर पलभर उसने प्रशान्त की ओर विस्मय से देख लिया था, फिर झट निगाह नीची कर वह अपनी हथेली पर देखने लगी।

इस स्वीकारोक्ति के बाद केस के रुख को सम्भाला न जा सका और प्रशान्त को छह महीने की सख्त सजा हुई।

कांटा टला, पर शान्ति का विवाह सुगमता से न हुआ। अन्त में

विज्ञापन दिया। शान्ति ने अपने सम्बन्ध के सम्बन्ध में कुछ भी जानने से इन्कार कर दिया। उसने कह दिया कि वह पूरी तरह माता पिता के हाथ में है। अन्त में एक जगह रिश्ता पक्का करके तैयारियां शुरू हुई। तिथि बहुत निकट आ गयी तब शान्ति ने अपने माता पिता से कहा "प्रशान्त की बात सच थी। और मेरा विवाह हो चुका है।"

पिता ने कह दिया "वह विवाह न था।" और तैयारियां जारी रखीं। और कहा "तू अगर गड़बड़ करेगी तो मैं संखिया खा लूंगा।" माता ने लड़की का पक्ष लेकर पिता को समझाया तो उन्होंने पत्नी को भी भला बुरा सुनाकर कहा "यह विवाह न हुआ तो मैं संखिया खा लूंगा जो कहीं तुम कुछ और सोचती हो।"

तब शान्ति ने माता के द्वारा अपने भावी वर को लिखा कि मैं कुमारी नहीं हूं और मेरा विवाह हो चुका है आप मुझ पर दया कर सकते हैं। पर उसका विशेष फल दिखाई नहीं दिया।

अन्त में भवितव्य हुआ और विवाह सम्पन्न हो गया। विवाह के एक सप्ताह अनन्तर जेल से प्रशान्त आया।

देवचन्द्र जेल के द्वार पर ही प्रशान्त को मिला। कहा "लो प्रशान्त मेरी प्रतिज्ञा भङ्ग हुई और तुम झूठे हो। मेरे पास जिन्दा सबूत है कि तुम्हारा दस्तावेज गलत था। बड़े मूर्ख हो। जेल तुम क्यों गये? मेरा प्रतिज्ञा तुड़वाने? खैर छोड़ो। यह कहो मेरे साथ घर चल रहे हो न?"

प्रशान्त सबसे बचना चाहता था। अधिक ठीक कहें तो सबको अपने से बचाना चाहता था। देवचन्द्र को अनायास भाव से मिलते देखकर कुछ अचरज भी था। उसने कहा "नहीं मैं नहीं चल सकूंगा।"

देवचन्द्र ने यह उत्तर नहीं लिया और हठात् प्रशान्त को साथ चलना पड़ा।

कुछ जलपान और बातचीत के अनन्तर नववधू ने आकर प्रशान्त के पैर छुये और प्रशान्त ने आशीर्वाद दिया। मुख पर कुछ घूंघट था और प्रशान्त की दृष्टि अन्यत्र थी किन्तु जब देखा कि वह शान्ति है तब भी उसे विस्मय नहीं हुआ।

इस अविस्मित तटस्थ दूरान्त दृष्टि पर टूटकर शान्ति प्रशान्त के

चरणों मे सिर डालकर फूट उठी। कहा, 'क्या अब मुझे नरक में ही रखोगे, क्षमा नही करोगे ?"

प्रशान्त ने इस पर नववधू के मस्तक पर हाथ रखकर उसे अखण्ड सौभाग्यवती होने का आशीर्वाद दिया।

तदनन्तर लगभग दो वर्ष अपनी पूर्व पत्नी के साथ गृहस्थ मे रहा, फिर उसने सन्यास ले लिया।

महाप्रभु स्वामी शान्तानन्द का यही पूर्ववृत्त है।

परावर्तन

१

दिल्ली
८ अक्तूबर

प्रिय,

आप का पत्र मैंने खोल लिया था, क्षमा करना। क्या भाई से कुछ कहा-सुनी हो गयी। नहीं तो धर्मशाला में क्यों रहती हो। मान की पढ़ाई में हर्ज न हो रहा होगा? उसके लिए मैं व्यवस्था कर रहा हूँ। क्या उसका भी मेरे साथ न रहना जरूरी है? खैर, जो भी तुम सोचो। लेकिन अब भी हर तरह की बात मुझसे कह सकती हो। और मैं तुम्हारा हूँ।

—कृपाचमाल

पुन—

मालती को न आने के लिए ही न लिखोगी?

कृपा०

२

लाहौर
२ अक्तूबर

मेरी प्यारी सखी शीला,

तुम तो मुझे भूल ही गयीं। घर को बस काम है। लेकिन सच-सच यह क्यों नहीं कहतीं कि हमारे भाई साहब से ही तुम्हें फुरसत नहीं मिलती। सुनती हूँ अब तुम लोग अपने नये मकान में आ गये हो। इनकी एक महीने की छुट्टी हो रही है। बड़ी मुश्किल से राजी हुए हैं कि चलो प्रयाग-काशी हो आयें। अगर सब ठीक रहा तो महीने के आखिर में हम तुम्हारे यहाँ आयेंगे, दिल्ली दिखाओगी न? दो रोज से ज्यादा का वक्त नहीं मिलेगा। पत्र का जवाब जरूर देना। भाई साहब से फुरसत न हो तो निकाल लेना।

ऐसी क्या तुम उन्ही की हो गयी, कि मुझे भी भूल जाओगी ? भाई साहब पिछली बार लाहौर आये तो मिले थे। हमने कहा ठहरो, पर कौन ठहरता है ! क्यो जी, तुमने उनके मन को ऐसा बाध रखा है ? बडी स्वार्थिन हो। खैर आऊगी तब देखूगी। शान को प्यार।

तुम्हारी—
मालती

३

दिल्ली
८ अक्तूबर

श्रीमान् जी,

मालती के लिए साथ का पत्र है। उचित समझ तो भेज दीजियेगा। आपकी चिन्ता के लिए मैं कृतज्ञ हू, लेकिन मुझे कोई कष्ट नही है। भाई के यहा स मैं खुद ही चली आयी। धर्मशाला म कई और रहते हैं। कुछ लोगो को तो वह भी नसीब नही है। इसमे चिन्ता का कारण नही। इस महीने का रुपया मुझे अभी तक नही मिला है। मेरे नाम का रुपया मेरे हाथ म आप कर सक्ते तो कोई बुराई न थी। तो भी अदालत में नही जाऊगी। सब आपकी न्याय बुद्धि पर है, जो चाहें सो करें। मैंने शान को समझाया है कि बेटी, मा के साथ तो तू दुख ही उठायेगा। बाप के साथ आराम से रहेगा और काबिल बनेगा। पर वह मुझे छोडता ही नही है। आप उस ले जा सको तो मुझे छुटकारा हो, पर घर पर मत रखना। उस नयी मा से डर लगता है। किसी बोर्डिङ्ग मे दाखिल कर सकते हो।

आपकी कोई नहीं
—शीला

पुन —

आप चाहें तो मालती को आने को लिख सकते हैं। कह दीजियेगा कि मैं मायके, या कही, गयी हू।

—शीला

४

दिल्ली
[redacted] अक्तूबर

मेरी चाँद सी बहन मालती

मुद्दत बाद तुम्हारा पत्र मिला। चलो शीला की याद तो आयी। तुम आ रही हो जान कर बड़ी खुशी हुई। मकान नया है और खूब जगह है। तुम आओ तो धन्य हो जाता। पर जो तुमने आने के दिन लिखे हैं उनमें ठिकाना नहीं है। शायद कहीं बाहर जाना पड़े। कोशिश करूँगी कि ऐसा न हो। तब तुम्हारे भाई साहब तार दे देंगे और तुम जरूर आ जाना। बाहर जाना पड़ा तो मेरा दुर्भाग्य है, लेकिन फिर बड़े दिन की छुट्टियों में दो रोज को जरूर आना। मालती, तू कैसी है? सुनती [redacted] अब तक अकेली और आजाद है। भाई, तू बड़ी मौज में है। औलाद से ज्यादातर दुख ही निकलता है। पहले तो संसार ही दुःखों है। पर छोड़ो, तेरी गिरस्ती तो नन्दन कानन होगी।

तुम्हारी ही—
—शीला

मालती,

जरूर आना, भूलना नहीं।

तुम्हारा—
कृपा०

५

दिल्ली
१० अक्तूबर

परम प्रिय बा० नन्दकिशोर,

पत्नी से सूचना मिली है कि आप सब लोग इस महीने के अन्त में प्रयाग के रास्ते में यहां उतरने का विचार रखते हैं। मैं अनुगृहीत हूंगा यदि आप इस विचार को निश्चय का रूप दे दें और कृपाकर आतिथ्य का अवसर दें। उत्तर की प्रतीक्षा में रहूंगा।

कृपाकांक्षी
—कृपादयाल

६

दिल्ली
२७ अक्तूबर

शीला,

मालती आ रही है। सब आ रहे हैं। परसों सवेरे पहुंच रहे हैं। खुद आने का मुझे साहस नहीं हुआ, इससे पत्र है। तुम्हारे बिना कैसे होगा? दोपहर गाड़ी लेकर आऊंगा। चाहो तो इन दिनों मंजुला का इंतजाम कहीं होटल में कर सकते हैं। शीला, तुम समझ सकती हो। इन्कार न करना। मैं कल आऊंगा।

—कृपा०

७

दिल्ली
२७ अक्तूबर

श्रीमान् जी,

आदमी ने पत्र दिया। शान मेरा पत्र लाता है। मालती क्यों आ रही है? मैंने तो उसे इन्कार लिखा था। मुझे कोई उसका दूसरा पत्र भी नहीं मिला। आप जानें आपका काम। कष्ट न कीजियेगा। मैं नहीं आ सकूंगी।

२७ तारीख को मुझे रुपया मिला। अगले महीने पहली या दूसरी को नहीं मिल गया तो फिर पन्द्रह-बीस की जो नौकरी होगी मुझे कर लेनी होगी, दूसरे से आगे पल्ला तो मैं नहीं पसार सकती।

—शीला

८

प्रयाग
≡ नवम्बर

प्यारी शीला रानी,

मैं क्या कहूं, बहुत-बहुत कृतज्ञ हूं। मुझे ईर्ष्या भी होती है। मेरे पति तुम्हारे ही गीत गाते हैं। सच कहती हूं शीला, दिल्ली में तुम लोगों के पास जैसे दिन गुजरे, वैसे जीवन में कम आते हैं। मैं बहुत-

बहुत कृतज्ञ हूं कि तुम्हारी गिरस्ती आदर्श है और तुम लोगों मे जो समझ सौहार्द है उसपर ईर्ष्या होनी है। हमारे यहा तो कुछ पूछो न शीला, आये दिन कुछ न कुछ रगडा-झगडा खडा होता रहता है। पर तुम लोगो का घर है कि कही क्लेश का बादल नहा। प्रीति से स्वच्छ और मुक्त हास्य ही वहा दिखाई देता है।

एक बात कहती हू कही इसका कारण यह तो नहीं कि तुम म पति के प्रति शका नहीं है और पूरे विश्वास से तुम उन्हे आजाद रखती हो। तुम हमारे साथ सिनमा नही गयी नुमाइश नही गयी। पहले तो मैंने समझा तुम अप्र न हो पर वह बात नही थी। हमेशा प्रसन्न हास्य ही तुम्हारे चेहरे पर दीखता था। मेरे स्वामी का तो अधिकतर काम रहता था और तुम्हारे पति के साथ ही घूमने को मैं लाचार थी। लेकिन तुम्हारे चेहरे पर मैंने कभी मल नही देखा। (इसके बाद की तीन पंक्तियां कटी हुई थी और पढी नही जा सकती थी) शीला मैं तुम्हे बहुत बहुत धन्यवाद देती हूं। तुमने मेरी आखे खोल दी। इस विश्वास के कारण ही शायद तुम्हारी गिरस्ती सुख से भरी है।

कल हम लोगो का काशी जाने का विचार है। उधर से अयोध्या होते हुए शायद लौटें तब दिल्ली आना न हो सकेगा। तुम लोगो ने घर से दिल्ली होकर लौटने का वचन ले लिया था लेकिन वह सम्भव नही है शीला रानी और तुम माफ करना। बना तो लाहौर से फिर कभी आयेंगे। लेकिन तुमने क्या ऐसा संन्यास-व्रत ले लिया है जो कहीं नहीं टलोगी। तुम लाहौर एक बार क्यो नही आती?

तुम्हारी
—मालती

६

दिल्ली
१२ नवम्बर

शीला

मालती का पत्र फिर मैंने खोल लिया ... आता है। बीच-बीच की लकीरें मैंने काटी हैं। लेकिन अब मालूम होता है फिजूल काटी हैं।

अपने बारे मे तुम्हारी अच्छी सम्मति मैं जरूरी समझता था, पर जरूरी अच्छी सम्मति नही, स्वय अच्छाई है, यह मैं देखता जाता हूँ। मजुला होटल से अब भी नही आयी। वह नाराज है। उसे होटल म रखकर तुम्हें घर म क्यो बुलाया गया? मैं नही जानता उसे यह बात किसने बतायी। लेकिन अब यह समझने लगा हू कि सच बात अपने को स्वय बतलाती है। झूठ बात को ही प्रयत्नपूर्वक बतलाना पडता है। खैर, वह छोडो। तुम गयी। मजुला गयी। घर म अब आराम है। नौकर-चाकर हैं, फौरन हुक्म पर काम करते हैं और खलल नही देते। वे अधीन हैं और घर म मेरी ही इच्छा और हुक्म सब-कुछ ह। पर शीला, अब लगता है कि कोई प्रतिरोध चाहिए। कोई चाहिए जो स्वय है, इससे अधीन नही है। बल्कि स्वाधीन है, इसमे प्रेमपूर्वक ही अपने को उसके अधीन करके उसे स्वाधीन करना होगा। प्रम पुरुषार्थ है, शीला! हम प्रम के भोग को चाहते हैं उसके अध्यवसाय को नही चाहते। प्राणी के साथ सहज है यह तो स्वार्थ है, अहकार है। प्रेम तो यत्नसाध्य है। शीला यह मैं नही जानता था, धीरे-धीरे जान रहा हूँ। अब ता जा होता है कि कह दू रुपया नही आयेगा और चलकर कहू कि लो मैं ही उसकी जगह आ गया हू। लेकिन उतना साहस नही है। तुम पर अपने को छोड सकूगा उसी रोज तुम्हारे निर्णय पर किसी तरह का आरोप लाना चाहूगा उससे पहले नही। तुम्हारा निर्णय मेरा भाग्य है। रुपया तो पहली तारीख को पहुचेगा ही। जब कहो सब-का-सब भी तुम्हारे हाथो मे पहुच सकता है। यह बात नगण्य है। लेकिन मजुला का क्या करू? रूप है, इसस उसे समझ नही है। रूप के गर्व मे वह बुद्धि खो बैठी है। इसमें उसका क्या दोष है? मैंने ही क्या उसके रूप की कीमत उसकी आखो मे नही बढायी! खैर, वह जाने दो। इस वक्त घर मे मैं एकदम स्वतत्र हूँ। और एकदम आराम से हूँ। तुम चिन्ता न करना।

तुम्हारा
—भूपा०

१०

दिल्ली

श्री०
२ दिसम्बर

एक तारीख हो गयी, रुपया नहीं आया। पर उस कारण नहीं लिख रही हूं। लेकिन यह क्या सुनती हूं कि घर में कोई आता है! और तुम शराब पीने लगे हो। फौरन उत्तर दो कि यह झूठ है, नहीं तो मैं नहीं सह सकती। जवाब आज के हाथ ही दे दें।

—शीला

११

दिल्ली

२ दिसम्बर की शाम

श्री०

शाम खत तुम्हारे वाली मेज की दराज में रख आया है। तुम मिले नहीं थे। यह डाक से भेजती हूं। जवाब तुरन्त दो। रुपया आज भी नहीं मिला।

—शीला

१२

दिल्ली

शीला देवी,
२ दिसम्बर

रुपया इसी खत के साथ है। एक दिन की देर के लिए क्षमा चाहता हूं। जो सुना, सच है। लेकिन मैं स्वाधीन हूं। कोई मेरी चिन्ता क्यों करे? मेरी जिन्दगी मेरे हाथ है। और अगर आपको आपका रुपया वक्त पर मिलता जाता है तो उससे अधिक मैं क्या कर सकता हूं? मंजुला ने २५०) मासिक की वृत्ति के लिए अदालत में मुझ पर दावा किया है। कल मैं उसीसे मिलने गया था, इससे यहां शाम से न मिल सका। २५०) मासिक से अधिक लेने का उसे हक था। कह आया हूं कि यह रकम उसे प्रति मास मिलेगी। दावा अब वापस हो जायगा।

देखता हूं रुपया बड़ी चीज है। उससे झगड़े शान्त होते हैं और शराब प्राप्त होती है। रुपया है तो चिन्ता क्या? —कृपा०

१३

दिल्ली
१० दिसम्बर

खबर सुनो शीला,

मालती आ रही है उसे मालूम है कि तुम यहा नही हो। मालूम है कि मैं अकेला हू और दुर्व्यसनी हू। पर यह भी मालूम है कि मुझे पैसे की अच्छी आमदनी है। मालती तुम्हारी सहेली है। यहा मैं उसके काम को नही जानता। वह १२ तारीख को सुबह पहुच रही है। कहो, तुम क्या कहती हो? शराब क्या अब भी बुरी चीज है?

—कृपा०

१४

दिल्ली
११ दिसम्बर

शीला,

आज फिर तार आया है। मालती आ रही है। तुम क्या समझती हो? मुझे इस वक्त तुम कुछ नही लिखना चाहती हो? फिर तुम न कहना शराब पीता हू।

मजुला आने को तैयार है। वह ने दिन घर रहेगी और मुझे आजाद रखेगी। डास भी देगी। डास वह अच्छा जानती है। फी दिन १००)। मालती का मन रखने को घर पर कोई तो चाहिए। क्यो शीला, क्या कहती हो?

—कृपा०

१५

दिल्ली
१४ दिसम्बर

ला शीला

मजुला गया मालती गयी। तुमने कुछ खबर नही ली न? मालती उपदेश देने आयी थी। मैंने कहा कि मेरे पास धन है। उपदेश की एवज म धन ही ले जाओ। धन का देना आनन्द देता है। पर उसने धन नहीं

लिया, फिर भी उपदेश दिया ही। मैंने कहा, पर वह तुमसे मिलने को राजी
नही हुई। कहती थी, तुम झेंपोगी। पागल है, वह तुम्हें नही जानती।
लेकिन शीला शराब को दोष न देना, वह असलीयत बाहर ले आती है।
शीला, मुझे माफ करना। गलती समझदार है। वह तुम जसी नही है।
वह दुनिया मे धन की कीमत जाननी है। और मजुला दो रोज के बा
तीसरे रोज भी रही और हिसाब म १००) उसके भी लगे। शीला, वह
मेरी पत्नी है। लेकिन धन बडी चीज है। अब तुम शराब को कुछ न कह
पाओगी, लेकिन तुम तो इधर कुछ कहती ही नही हो। चलो अच्छा है।
मैं भी नजदीक आ रहा हू कि तुम्हें लिखने के सिलसिले को अपनी तरफ
से छोड दू।

तो तुम धर्मशाला मे ही रहे जाओगी? घर जो यह पडा है। परन्तु
तुम जानो। मैं शायद कुछ कहने लायक नही हू।

तुम्हारा
—कृपा०

१६

दिल्ली
२६ दिसम्बर

लो, शीला

यह अन्तिम पत्र है। मैं बिस्तर मे हू। फिक्र न करना। नस है
डाक्टर है। और सब इन्तजाम है। खुद नही लिख सकता हू। इसीसे तो
खत लिखवाया है। कल बडा दिन था। ईसा क्राम पर चढे थे। सोचता
था, तुम्हारे पास आऊगा और माफी माग लूगा पर साहस न हो रहा था,
तभी मजुला ने होटल मे बुला भेजा। बात सक्षेप म कहू। वहा म कैसे घर
आया मालूम नहा। होश आया तब डाक्टर को सिर पर देखा। अब ठीक
है। चोट ऐसी तो नही है लेकिन तुम्हें फौरन आ जाना है। मजुना के पास
किसीको होना चाहिए। वह डरती होगा। गाडी आ रही है। अधिक
मिलने पर—

तुम्हारा
—कृपा०

१७

दिल्ली
१ जनवरी

प्यारी बहन मालती,

तुम यहां आयी थीं तब मैं मिली नहीं। तब से तुमने खत भी नहीं लिखा, बड़ी मुंह चोर हो जी! तुमने क्या यह समझा कि अपना घर मैं नहीं सम्भाल सकती?

सुनो बहन, अपने मन में सुन कुछ न रखना। अखबारों से तुमने इन्हें चोट आने की खबर जानी ही होगी। मञ्जुला कुसंग में पड़ गयी है। लेकिन मन से कोई बुरा नहीं होता और अगर हम मन में से आदर नहीं खोयेंगे तो एक दिन वह फिर इसी घर में आ जायगी। भूत से तो लड़ा नहीं जा सकता। जो हो गया उसे मानकर ही चलना होगा। अखबारों ने बात बढ़ा चढ़ाकर छापी थी। रुपये पैसे का झगड़ा हो गया था। यह तो रुपये पर हाथ नहीं भींचते, पर गुण्डों के सामने दबना नहीं चाहा होगा। मंजुला ५००) माहवार और १०,०००) नकद चाहती थी। यह राजी नहीं हुए। इन्होंने कहा कि मंजुला के लिए उनका प्रेम सच्चा होता तो २५०) भी उसे न देते। पर इतनी दुश्मनी उसके साथ नहीं कर सकते कि ५००) माहवार और १०,०००) दें। रुपये का सवाल नहीं है! पर इसमें मंजुला का ही भला नहीं है। तारीफ तो तब है जब मंजुला अपनी तरफ से कुछ न चाहे। वह घर में कुछ न चाहे। वह घर में क्यों नहीं रहती?—इस पर कुछ कहा सुनी हो गयी होगी और मंजुला और उसके दो साथियों ने इन पर वार किया। मारने की मंशा होती तो मार सकते थे पर जख्म करके उन्हें वहां घर पहुंचा दिया। अब काफी आराम है।

बहन, स्त्री की कुछ न पूछो। मैंने सोचा था कि डिगूंगी नहीं, पर परमात्मा भला किसकी रखता है और स्त्री तो टूटने के लिए बनी है।

बहन, न टूटने में कोई सुख भी नहीं है। खैर, अब बताओ तुम कब आओगी? इन्हें अच्छा होने दो, फिर हम भी तीर्थ-यात्रा पर जायेंगे। चलोगी न हमारे साथ?

तुम्हारी
—शीला

निस्तार

बाबू मातामसाद को हाईकोट की अपील मे इलाहाबा" जाते समय उनके पडोसी लाला महावीरप्रसाद ने कह दिया था कि वहा से पुष्पा को साथ लेते आना, भूलना नही ।

पुष्पा की बडी बहन मनोरमा इलाहाबा" ही रहती है । बहनोई हाई कोट मे ट्रासलेटर है । पुष्पा यूनिवर्सिटी मे बी० ए० मे पढती है ।

बाबू मातामसाद छुटपन से पुष्पा को जानते हैं । उसके विवाह की बातचीत भी उनकी माफत चल रही है । लाला महावीरप्रसाद के वे घनिष्ठ मित्र हैं ।

इलाहाबाद से चलने की बात थी । उससे कुछ घण्टे पहले पुष्पा उनके घर आ गयी । कहने लगी "मेरा पढने का नुकसान होगा । कुल प द्रह रोज की छुट्टिया तो हैं, फिर आना पडेगा ।"

मातामसाद ने कहा, "तो आ जाना । तुम्हारी मा ने बहुत कह दिया है ।"

पुष्पा बोली, 'न्नी मैं नही आऊगी । फिर कौन पहुचाने आयगा ?"

'शायद मुझे कुछ दिनो मे यहा आना हो । पहुचाने का जिम्मा मुझ पर है । चल जल्दी कर । सामान ला ै है ?"

'सामान भी नही लायी हू । मैं क्या "रूगी आकर ?"

'तेरे पिता ने जरूरी कह दिया था आ "हा काम भी है ।" हँसकर बोले, यह आखिरी माल है हमेशा पढे ही थोडे जायगी ।'

मातामसाद का कुछ ढग ही ऐसा था कि पुष्पा का अनमनापन रह गया और दोना साथ इलाहाबाद से रवाना हुए । कि तु चलने पर अधिक देर उनका मन स्वस्थ नही रहा । उनको शका घरने लगी । रेल मे धीमे से उ होंने पूछा "पुष्पा क्या बात है ?"

"कुछ नही ।"

सुनकर वह रेल से बाहर देखने लगे। धरती भाग रही थी। किनारे पर पेड़ भी घूम रहे थे। खिड़की की राह वह बाहर ही देखते रहे। पुष्पा किताब पढ़ रही थी।

माताप्रसाद ने कहा, "पुष्पा, पानी देना।"

पुष्पा ने उठकर सुराही में उँडेलकर गिलास में पानी दे दिया। वह गौर से उसे देखते रहे। आधा गिलास पानी पी-कर गिलास वापिस लौटाते हुए कहा, 'लो रख दो।' फिर उसी तरह गौर से कुछ देर पुष्पा को देखते रहे।

पुष्पा बराबर सीट पर आ बैठी, तो वह उसी तरह खिड़की से बाहर देखने लगे। एक कुछ देर बीतने पर उन्होंने बहुत प्यार से और धीमे से पूछा, "कुछ तबीयत खराब तो नहीं है?"

पुष्पा ने उनकी आँखों में निगाह जमाकर कहा, "नहीं, तो बाबाजी।"

"अच्छा।"

भारी कण्ठ से यह कहकर वह फिर अपने में हो रहे। पर मन जमता नहीं था। वह इधर-उधर किसी चीज में नहीं रुकता था। टेस कानपुर निकल गया। अंधेरा हो रहा था। दूसरी कोई बर्थ खाली न थी। वह चाहते थे सो जायँ और पुष्पा भी सो जाय। वह अपने ही भीतर की उठी बात को सुनना नहीं चाहते थे।

'लो बिस्तर कर लो।'

पुष्पा सुनकर भी बैठी ही रही, तो बोले, "लाओ मैं ही किये देता हूँ। जरा उठो तो।"

पुष्पा उठकर उनके हाथ से होल्डाल लेकर बिस्तर बिछाने लगी। माताप्रसाद अलग खड़े हुए उसे गौर से देखने लगे। फिर बिस्तर पर बैठकर और उसके भी बैठ जाने पर स्निग्ध कण्ठ से बोले, "पुष्पा, तुम्हें कुछ महीने तो नहीं चढ़े हैं?"

पुष्पा नीचे देखने लगी। और भी स्निग्ध और भीने कण्ठ से कहा, "घबराओ नहीं बेटी।"

पुष्पा बेहद धीमे बोली, "हाँ।"

निस्तार

बाबू माताप्रसाद को हाईकोर्ट की अपील मे इलाहाबाद जाते समय उनके पड़ोसी लाला महावीरप्रसाद ने कह दिया था कि वहा से पुष्पा को साथ लेते आना, भूलना नही।

पुष्पा की बड़ी बहन मनोरमा इलाहाबाद ही रहती है। बहनोई हाई-कोर्ट मे ट्रासलेटर है। पुष्पा यूनिवर्सिटी म बी० ए० मे पढती है।

बाबू माताप्रसाद छुटपन से पुष्पा को जानते हैं। उसके विवाह की बातचीत भी उनकी मारफत चल रही है। लाला महावीरप्रसाद के वे घनिष्ठ मित्र हैं।

इलाहाबाद से चलने की बात थी। उससे कुछ घण्टे पहले पुष्पा उनके घर आ गयी। कहने लगी "मेरा पढने का नुकसान होगा। कुल पन्द्रह रोज की छुट्टिया तो हैं, फिर आना पड़ेगा।"

माताप्रसाद न कहा, 'तो आ जाना। तुम्हारी मा ने बहुत कह दिया है।'

पुष्पा बोली, 'नहीं मैं नही जाऊगी। फिर कौन पहुचाने आयगा?"

"शायद मुझे कुछ दिनो मे यहा आना हो। पहुचाने का जिम्मा मुझ पर है। चल जल्दी कर। सामान लायी है?'

'सामान भी नही लायी हू। मैं क्या रहूगी जाकर?'

'तेरे पिता ने जरूरी कह दिया था और जरूरी काम भी है।" हँसकर बोले 'यह आखिरी साल है हमेशा पढ़ते ही थोड़े जायगी।"

माताप्रसाद का कुछ ढग ही ऐसा था कि पुष्पा का अनमनापन रह गया और दोनो साथ इलाहाबाद से रवाना हुए। किन्तु चलने पर अधिक देर उनका मन स्वस्थ नही रहा। उनको शका घरने लगी। रेल म धीमे से उन्होंने पूछा "पुष्पा, क्या बात है?'

"कुछ नहीं।'

सुनकर वह रेल में बाहर देखने लगे। धरती भाग रही थी। किनारे पर पेड़ भी घूम रहे थे। खिड़की की राह वह बाहर ही देखते रहे। पुष्पा किताब पढ़ रही थी।

माताप्रसाद ने कहा पुष्पा पानी देना।

पुष्पा ने उठकर सुराही में उड़ेलकर गिलास में पानी दे दिया। वह गौर से उसे देखते रहे। आधा गिलास पानी पी-कर गिलास वापिस लौटाते हुए कहा, 'लो रख दो।' फिर उसी तरह गौर से कुछ देर पुष्पा को देखते रहे।

पुष्पा बराबर सीट पर आ बैठी तो वह उसी तरह खिड़की से बाहर देखने लगे। इस कुछ देर बीतने पर उन्होंने बहुत प्यार से और धीमे से पूछा कुछ तबीयत खराब तो नहीं है?'

पुष्पा ने उनकी आंखों में निगाह जमाकर कहा नहीं तो चाचाजी!"

'अच्छा!"

भारी कण्ठ से यह कहकर वह फिर अपने में हो रहे। पर मन जमता नहीं था। वह इधर-उधर किसी चीज में नहीं रुकता था। ऐसे कानपुर निकल गया। अंधेरा हो रहा था। दूसरी कोई बर्थ खाली न थी। वह चाहते थे सो जाय और पुष्पा भी सो जाय। वह अपने ही भीतर की उठी बात को सुनना नहीं चाहते थे।

'लो, बिस्तर कर लो।

पुष्पा सुनकर भी बैठी ही रही, तो बोले, लाओ, मैं ही किये देता हूं। जरा उठो तो।"

पुष्पा उठकर उनके हाथ से होल्डाल लेकर बिस्तर बिछाने लगी। माताप्रसाद अलग खड़े हुए उसे गौर से देखने लगे। फिर बिस्तर पर बैठकर और उसके भी बैठ जाने पर स्निग्ध कण्ठ से बोले, "पुष्पा, तुम्हें कुछ महीने तो नहीं चढ़े हैं?"

पुष्पा नीचे देखने लगी। और भी स्निग्ध और भीने कण्ठ से कहा, 'घबराओ नहीं, बेटी!'

पुष्पा बेहद धीमे बोली, 'हां।'

सहसा ठहरे, फिर पूछा "कितने ?"

धोती माथे से आगे लाकर पुष्पा ने कहा "शायद चार।"

माताप्रसाद सुनकर चुप रह गये। थोड़ी देर बाद बोले "तो यह क्या कर रही हो ? माता पिता पर जाहिर होना चाहती हो ?"

"क्या करूं ? न जाऊं ?"

माताप्रसाद फिर सोचते रह गये।

उन्हें चुप देखकर पुष्पा बोली, "अगले स्टेशन से वापस लौट जाऊं ?"

माताप्रसाद को इसका कुछ भी उत्तर नहीं सूझा।

"सोचती थी, दो रोज उनकी आशा के आगे रह आती।"

माताप्रसाद अब भी नहीं बोले।

"उन्हें पता नहीं चलेगा। बस जायगा तो—?"

सुनकर उन्होंने पुष्पा को देखा। माथा और आंखें धोती की किनारी की ओट में हैं। ऊपर पैर लेकर हाथ से अंगूठे का नाखून खुरच रही है।

पूछा "लौटना चाहती हो ?"

"कहें तो अगले स्टेशन उतर जाऊं।"

"अकेली जा सकोगी ?"

"जा सकूंगी।"

माताप्रसाद चुप रह गये।

थोड़ी देर तक उन्हें चुप देखकर पूछा, "तो अगले स्टेशन मुझे उतर जाना है ?"

माताप्रसाद निरुत्तर रहे। उनकी बुद्धि काम नहीं कर रही थी। अच्छा तो यही हो कि माता पिता जान जाएं, लेकिन इसके लिए उन्हें तैयार करना जरूरी है। यों तो लड़की की जान की खैर नहीं। फिर मां जाने क्या कर बैठें। कुछ तय न कर पाने से इससे खीज उठती थी। पर उसका अवसर न था। रेल का डिब्बा था और यों भी कहने सुनने की जगह से समस्या आगे आ गयी थी।

देखा, पुष्पा छोटी मोटी चीजों को समेटकर बैग में रख रही है।

सहसा उसने पूछा, 'आप भी उतरेंगे ?"

चौंककर बोले, "मैं ?"

"कहें तो मैं अकेली उतर जाऊं ?"

जवाब एकस्मात उनसे नहीं बना। उन्हें गुस्सा आ रहा था। पर किसी तरह भी झुंझलाहट का तनिक अंश भी वह प्रकट नहीं कर पाते थे। झटके से बोले, "चलो, इटावे में दूसरी गाडी ले लेंगे। पहले उतरकर तुम्हीं से निबट लें।"

इटावे में वह भी साथ उतरे। वेटिंग रूम में रात गुजारनी होगी, सवेरे आठ बजे गाडी मिलेगी। मुझे आज ही मेरठ पहुंचना था। कचहरी में केस है। आदि-आदि सोचकर पुष्पा पर रह-रहकर उन्हें तैश आता था। बोले, "अब बताओ, क्या करना चाहती हो।

पुष्पा चारों ओर से पूरी तरह धोती लपेटे, पल्ला आगे ले, नीचे देखती हुई, गुमसुम बैठी रही। बोली नहीं।

माताप्रसाद के मन में तरह-तरह की बातें उठीं। बहुत से दुर्वचन, बहुत-से व्यंग्य। पर कोई भी तीखी बात इस सामने बैठी लडकी से वह नहीं कह सके, और स्वयं में झुलसते रह गये।

"बताओ जी तुम फिर क्या कहती हो ?"

पुष्पा ने धीमी वाणी में कहा, ' मैं रेल के नीचे कट सकती हूं।"

सुनकर माताप्रसाद के मन में आया कि कह कि रेल के नीचे मरने का वक्त तो था, लडकी ! अब तो तू उस वक्त को भी गवा चुकी है। लेकिन वह कुछ भी नहीं कह पाये। कुछ न सूझा तो बोले नहीं, मैं तुम्हारे साथ नहीं चल सकता हूं।"

पुष्पा बोली, "और मैं भी इलाहाबाद वापस कैसे जा सकती हूं, चाचाजी ?"

"क्यों ? तो फिर कहां जाओगी ?'

"कहीं नहीं जाऊंगी। अपना अन्त तो कर ही सकती हूं।"

"क्यों ? मनोरमा के पास नहीं जा सकती ? वह जानती तो होगी ?"

"नहीं, कोई नहीं जानता। और जिसे जानना चाहिए वह इस बारे में सोचना नहीं चाहता।"

कुछ उकताकर माताप्रसाद ने कहा, 'मुझसे पूछो तो तुम्हें उसीके पास जाना चाहिए। वह है कौन?

पुष्पा ने अब ऊपर की ओर देखा, आँखें भरी थीं। कहा, "वह बचना चाहते हैं चाचाजी! हम सबको उन्हें बचाना चाहिए।"

'क्या बचाना चाहिए?'

"दया धर्म बताया है चाचाजी।"

माताप्रसाद को बहुत बुरा लगा। धमकाते से बोले "तो तू क्या करेगी?'

मर गी नहा, तो जिस तिस तरह जी लूगी।"

और भी कड़ककर वह बोले "बदनसीब, मेरठ के लिए ऐसी हालत में तू मेरे साथ क्या चली आयी? लाज नहीं आयी?"

पुष्पा रो पड़ी। बोली 'कुछ नहीं आया, चाचाजी कुछ भी समझ में नहीं आया। अब कहो, वह करूं!'

माताप्रसाद उधेड़ बुन में इस वक्त टहल रहे थे। ऐसी हालत उनकी कभी नहीं हुई। क्या झमेला है! इस लड़की ने मुसीबत में डाल दिया है। बोले, 'तुमने मुझसे इलाहाबाद में सब कुछ क्यों नहीं कहा?'

'मैंने तो कहीं भी कुछ नहीं कहा, आप ही न कहलाते तो मैं क्या किसी भी तरह कह सकती थी?"

"तो फिर चलो मेरठ। झगड़ा क्या किये का फल भुगतो।'

"उसके लिए तो मैं तैयार हूं, लेकिन मा-बाप के यहां जन्मी इसीसे क्या उनको भी मेरे किये का दण्ड भोगना होगा? मैं यह नहीं होने दूंगी। इस उमर में उनकी इज्जत पर बट्टा लगे, इससे पहले मुझे लाख लाख बार मरना मंजूर है।"

'तो फिर ऐसी हिम्मत से मेरठ के लिए मेरे साथ चल क्या पड़ी थी?"

सोचती थी, कोई जानेगा नहीं। और उन्हें अपना मुंह दिखाकर और अन्तिम बार उनके दर्शन कर पीछे जो बने मैं अपना निपटारा कर लेना चाहती थी। उसके बाद जीती भी बचती तो उनका रास्ता न काटती। पर मेरा नसीब जो फूटा है। रास्ते में आपने ही सब जान लिया। अब

आगे मुझसे कैसे जिया जायगा ?"

माताप्रसाद सुनते हुए बराबर कमरे मे टहलते ही रहे। एकाएक गुस्से में बोले, 'यह कब से चल रहा था ?'

पुष्पा ने उधर ध्यान नहीं दिया। कहती रही, "शायद सब भले के लिए होता है। इन थोड़े दिनो मे जो मैंने जाना, वह किसी भी दूसरी तरह नहीं जान सकती थी। अब मुझे कोई भी साध नहीं है। मैं सहज-भाव से मर सकती हू। गुस्सा भी मुझे नहीं है। दोष भी किसी को कैसे दे सकती हू ! उसका भी कैसे बुरा चाह सकती हू जो लाचार है, और अब नहीं निभा सकता। मैं मां-बाप के समक्ष जाकर चरण छूकर मन ही-मन उनकी क्षमा पा लेना चाहती थी। पर अब वह नहीं हो सकता तो भाग्य को भी दोष नहीं दूगी। विपत न पड़े तो आखें हमारी कैसे खुलें ? मैं पढ़ती थी और जानती थी कि पाप कहीं भी नहीं है। लेकिन अब जाना कि हम जैसो को पाप न हो तो प्राप्त भी कुछ न हो। आज तो मैं पाप मे विश्वास रखती हू। उसने मुझे सिखाया। वह किसी तरह भी ग्रन्था से मुझे न आता। दुःख में मे सान्त्वना मिलती है। पाप म मे धर्म मिलता है। यह भी शायद ठीक हुआ न कि आप आज आ गये। मरना केवल मैं इसी-लिए चाहती हू कि जिन्हें मुझसे प्यार था और आशा थी उन्हें मुझसे ग्लानि और निराशा का दुःख न मिले। मैं—"

मातप्रसाद अपने से झगड़ते हुए टहले जा रहे थे। आधा उन्हें सुन पड़ता था, आधा नहीं सुन पड़ता था। समझकर सुनने या सुनकर समझने की उन्हें चिन्ता न थी। सहसा घूमकर बोले क्या बकती हो !'

पुष्पा बोली, 'माता पिता से आप कुछ भी कहानी कह दीजियेगा। पर आप विश्वास मानिये कि कोई अभाव-अभियोग लेकर मैं नहीं जाऊंगी।"

जैसे कुछ न सुना हो, जोर से बोले 'कहां जाने की बात कर रही हो ?"

पुष्पा को मानो उन पर करुणा हुई। बोली, 'कहीं भी नहीं।"

"क्यों, मरोगी ?"

पुष्पा उनकी ओर देखती रह गयी।

बोले, "मरना बुरा नहीं है। इससे पहले ही मर जाती तो अच्छा

होता।"

पुष्पा इस समय सचमुच इस स्नेही वृद्ध-जन के प्रति दयार्द्र हो आयी। वह बोली नहीं।

माताप्रसाद कहते रहे "आज की औलाद को जाने क्या हो गया है? मां-बाप उनके लिए जीते हैं, उनके लिए पिसते, कमाते और इज्जत बनाते हैं। लेकिन ये हैं कि—अरे, मरना था तो मर क्यों नहीं गयी?"

पुष्पा देख सकी कि उनका दुःख किसी भी तरह उसके निज के दुःख से कम नहीं है। बल्कि वह कुछ अधिक ही कष्टकर है, क्योंकि मृत्यु में उसका उपाय नहीं है। मैं तो मरने की सोचकर छुटकारा पा जाती हूं, इनको वह राह भी नहीं है। इसलिए डबडबाई आंखों से वह उन्हें देखती रह गयी। उत्तर में कुछ कहने की हिम्मत उसे न हुई। माताप्रसाद मानो चीखकर बोले, "नहीं मर सकी तो तुम उस लायक नहीं हो। अब वह बात न करना। चलो, मेरठ चलो।'

'मेरठ?"

,हां! तुम्हारे माता पिता ही वहां नहीं रहते, और बहुत रहते हैं।"

पुष्पा कृतज्ञ आश्चर्य से क्षणभर उन्हें ताकती रही। फिर बोलना चाहा—

लेकिन तभी मानो डपटकर माताप्रसाद ने कहा, "बस हुआ, अब सोओ। मालूम है क्या बजा है? दो होगा। सवेरे चलना भी है। सुना नहीं बिस्तर खोलो और सो जाओ।'

पुष्पा सुनकर वहीं बैठी रह गयी और माताप्रसाद कहकर स्वयं टहलने लग गये। एकाएक मुड़कर उसे वहीं बैठा देखकर डांटकर बोले, "सुना नहीं? क्या तुम बहरी हो? बिस्तर खोलो और सो जाओ।" तत्काल पुष्पा को उठता हुआ न देखकर कड़ककर कहा, "उठो।"

जैसे वज्र कड़क गया। पुष्पा को न चेत रहा कि वह बीस वर्ष की है। मानो पांच बरस की ही वह अब भी हो, खुद में कुछ न हो, आदेश पालन के लिए बस पात्र हो। उस आवाज पर एकदम सहमकर वह जैसा कहा करने लगी।

सोफा पर बिस्तर बिछा लिया और लेट गयी।

मानाप्रसाद बिना उधर ध्यान किये टहलते रहे। सहसा रुककर बोले, "पुष्पा, अपने दिलीप को तो तू जानती है न? पी० सी० एस० मे आ गया है। उसकी सगाई मैं तोड सकता हू। क्यो, सो गयी?"

पुष्पा आख फाडे छत देख रही थी। बहुत भीतर की तह फोडकर उसकी आखो मे आसू भरे आ रहे थे। पर वह बोली नही। इस तरह पडे-पडे जाने पुष्पा को कब नीद आ गयी। सबेरे जागी तो आराम-कुर्सी पर माताप्रसाद भी सो रहे थे।



ब्याह

बडे भाई के बाद अब घर का बोझ मुझ पर पड़ा। घर का तन्त्र भी मेरे हाथ में आया। लेकिन मुझे इसमें कुछ दिक्कत नहीं हुई। मैं सेशन जज हूं, सात सौ पाता हूं, और घर में मुकाबले को कोई नहीं है। मां सेवा और आज्ञानुसरण के अतिरिक्त और कुछ नहीं जानती, और पत्नी जितनी ही कम शिक्षिता है उतनी ही ज्यादा पतिपरायणा है।

किन्तु भाई साहब, अपने अन्तिम समय, जिसे खासतौर से बोझ जतलाकर मुझे सौंप गये, मेरे ऊपर छोड़ गये, उसके सम्बन्ध में मुझे अवश्य सतर्क और चिन्तित रहना पड़ता है। ललिता मैट्रिक के साथ अपना सोलहवां साल पार कर चुकी है। भाई साहब अपने जीवन-काल में इसे जहां तक हो वहां तक पढ़ाना चाहते थे। शायद कारण यह हो कि वह खुद बहुत कम पढ़े थे। किंतु आखिरी क्षण आश्चर्य है, उन्होंने ललिता की शिक्षा के बारे में तो कुछ हिदायत न दी, कहा कि देखो ललिता का ब्याह जल्दी कर देना। मेरी बात टालना मत भूलना मत।

अब भाई साहब की अनुपस्थिति में, ललिता को देखते ही, ये शब्द बड़ी बेचैनी के साथ मानो भीतर विद्रोह मचा उठते हैं। मैं उन्हें भीतर-ही-भीतर खूब उलटता-पलटता हूं सोचता हूं— यह क्या कहा गया ?—और मेरा क्या कर्तव्य है ?

ललिता को बड़ी जिज्ञासा, अन्वेषण, अनुवीक्षण और बड़ी चिन्ता और निर्णय देने के भाव से देखता हूं। शायद उन शब्दों का ललिता के व्यक्तित्व से कोई सामञ्जस्य हो। फिर रह रहकर ध्यान होता है मुमकिन हो सकता है, भाई साहब ने समझा हो मैं ललिता को ठीक प्यार, संभाल और अपनेपन के साथ नहीं रख पाऊंगा, और तभी ऐसा कहा हो। जब यह बात उठती है तो भाई साहब पर बड़ा गुस्सा आता है। उन्होंने मुझे बे-भरोसे का आदमी समझा !—जैसे मैं उनका सगा, उन्हींका पाला,

बढाया और पढाया नही हू !—जैसे मैं बिल्कुल जानवर हू !

ऐसी ही सब बातें सोचकर मैं ललिता के ब्याह के बारे मे व्यग्र और उद्विग्न हो उठना नही चाहता। फिर सोचता हू भाई साहब की मशा पूरा करने का काम अब मुझ पर आ पडा है—ललिता को खूब पढाऊगा और फिर खूब धूम से विवाह करूगा। दिया लेकर ऐसा लडका ढूढूगा जो दुनिया मे एक हो। लडके को खोजने मे मैं खूब वक्त और खूब श्रम लगाना चाहता हू। ललिता हमारी ऐसी जगह जायगी कि भैया भी स्वर्ग मे खुशी से फूल उठें !—पर जल्दी नही।

इस तरह लडकी का पढना जारी है। बी० ए० पहुचेगी, तब कहीं ब्याह की सोचूगा।

२

यह ललिता भी हमारे घर मे अजीब ही लडकी है। कुछ पार ही नही मिलता। कुछ समझ ही नही पडती। जाने कैसे फस्ट क्लास मे मट्रिक पास कर गयी। पता नही पडता जब पढने मे इतनी होशियार है तो व्यवहार मे क्यो ऐसी अल्हड है ! उसे किसी बात की समझ ही नही है। लोग कुछ कहें, कुछ समझें—जो समाया उसे वह कर ही गुजरती है। नौकर हो सामने, और चाहे अतिथि बैठे हो—उस जोर की हसी आती है तो वह कभी उस न रोक सकेगी। गुस्सा उठेगा तो उसे भी बराक निकाल बाहर करेगी। सबके सामने बे हिचक मुझ चाचा को चूम-कर प्यार कर डालती है, और मेरी ही तनक सी बात पर ऐसी तुनक पडती है कि बस ! हँसती तो वह खूब ही है गुस्सा तो उसका आठवा हिस्सा भी नही करती होगी। हा, जब करती है तो कर ही देती है, फिर चाहे कुछ हो कोई हो !

मैं चाहता हू, उसे कुल-शील का, सभ्यता शिष्टता का, अदब-कायदे का छोटे-बडे का व्यवहार मे सदा ध्यान रखना चाहिए। पर उससे इन सब बातो पर निबध मुझसे अच्छा लिखवा लो, ध्यान नही रखवा सकते। नौकरो से अपनापा जोडेगी, हमसे, जैसे बची बची रहेगी, सहपाठियों और अग्रजीदाओ से हिन्दी के सिवा और कुछ न बोल सकेगी, नौकरों और देहातियो के साथ अग्रेजी बोलेगी। नौकरो को तो कभी-कभी अग्रेजी

में पाच पाच मिनट तक के लेक्चर सुना देती है जैसे मानो दुनिया मे ये ही उसकी बात का मर्म समझने वाले मिले है। समकक्षियों और बडो म धीर-गम्भीर और गुम-सुम रहती है जैसे सिर म विचार-ही विचार हैं, जुबान नहीं छोटो मे ऐसी खिली खिली और चहकती फिरती है कि जैसे इसका सिर खाली है, चलाने को बस जुबान ही है।

मिसरानी को बडा ही तग करती है। पर मुश्किल यह है कि मिसरानी को इस बात की बिल्कुल शिकायत नही है, और इस कारण मेरे पास डपटने को पूरा मौका नहा है। पर ललिता बे-जरूरत चौके म पहुच जाती है, कभी उगली जलाती है कभी नोन अपने हाथ स डालने की जिद करके दाल को कडवी बना देती है आटा उसनते उसनते जब वहा-वहा फिरने लायक हो जाता है, तो मिसरानीजी स साहाय्य की प्रार्थना करती है और मिसरानी उसके दायें कान को हँसते-हँसते अपने बायें हाथ से जरा टेढा तिरछा करके आटा ठीक कर देती है। मालकिन के मुलायम कानो को मसलने का जब अधिकार-सयोग मिले, तो उस अवसर को मिसरानी जान-बूझकर क्यो खोये ? उस दिन होना पडता है तो हो।

लेकिन मुझे यह सब अच्छा नही लगता। जते जहा जायगी वहा इसे ही रोटी बनानी पडेगी! फिर क्यो फिजूल ऐसे कामो मे हाथ डालती है ?—यह तो है नहा कि टेनिस की अपनी प्रेक्टिस बढा ले शायद उसमे चमक उठे, और अखबारो मे नाम हो जाय। इसलिए मैं उसे काफी गुरु-मुद्रा के साथ धमका देता हू—"ललिता यह क्या यहा वहा उलझती-फिरती हो। वहा मिसरानी के पास निठल्ली वक्त गवाती हो, कुछ पढ़ो लिखो तो नफा भी हो। ललिता मैं कहता हू छोटे लोगो की नही बडों की सोबत कर।—वह डिक अभी आया था, मैंने कह दिया तुम गयी हो। यह शकल देखता तो क्या कहता! कसे धुए ने आंखो स पानी निकाल निकालकर आंखो को लाल कर दिया है और उस पानी ने धुए से सनकर सारे चेहरे को कैसा चिपचना-बुरा बना रखा है। ललिता, मैं कहता हू यह ठीक नहीं।"

इसका जवाब ललिता ने जो दिया अगर वह मेरी निज की लडकी देती, तो मैं बरदाश्त न कर सकता। पर ललिता के मुंह से सुनकर म

बहुत ज्यादा गुस्सा हुआ न बहुत अचरज। गुस्सा होता भी तो मैं कुछ ज्यादा न कर सकता था। मेरे समीप वह भाई साहब की स्मृति थी, उनकी प्रतिमूर्ति थी, मेरे समीप वह रक्षा से बहला-बहलाकर, स्नेह पोष्य वस्तु थी। इसलिए मैं उसका जवाब सुनकर चुप न रहकर चाहे और कुछ भी क्यों न करता, उसे उस मार्ग से न हिला सकता। जवाब में उसने कहा था—

'चाचाजी, डिक सफेद आदमी है। मैं काली हूं चाचाजी ! आप भी भूलिये मत आप भी काले हैं। क्या हम कालों को सफेदों की खुशी-ना-खुशी ढूंढने के सिवा और कुछ काम नहीं ? हम ही ऐसे हैं, जो उनके ओठों के और भौंहों के जरा वक्र होने पर या तो अतिशय धन्य होकर, या फिर पैरों में पड़कर मर जाना चाहते हैं ! लेकिन मैं ऐसी नहीं रहना चाहती। और यह हम लोगों की बात नहीं है कि होटल की डबल रोटी खायें और चौके में घिन करें। मुझे तो अपने चौके की रोटी ही अच्छी और मैं चौके से अपना पिण्ड छुड़ाना नहीं चाहती।'

यह लड़की जो जरा दुनिया नहीं समझती जो समझती है उसकी कोस की किताबों में और कल्पना-क्षेत्र में उड़ते हुए उसके छोटे-से दिमाग में ही दुनिया बन्द है उससे बहस में कौन पड़े ! समझती ही नहीं, तो करे अपने जी की। पर डिक—

डिक हमारे जिले के डिप्टी कमिश्नर का लड़का है। अभी एक वर्ष से विलायत से आया है। ऑक्सफोर्ड में पढ़ता है। पर पिता ने हिंदुस्तान देखने के लिए बुला भेजा है। पिता की राय है डिक आई० सी० एस० में जाय।

बड़ा अच्छा है—डिक। घमण्ड उसमें नाम को नहीं। बड़ा मृदुभाषी सुशील, शिष्ट। जरा आप उसे जानें कि फिर ऐसे मिलता है कि वह आपका ही है। ललिता को जानकर उसने बड़ी प्रसन्नता प्रकट की। ललिता की बड़ी तारीफ करता है।

पर मुझे कुछ और लगता है, मुझे कुछ और आशा है। डिक हर लिहाज से मुझे बहुत खूब जचता है। पर मैं उसे और-और देखता हूं, और वह और-और अच्छा लगता है। मैं सोचता हूं । बात बहुत सुन्दर है। डिक की ओर से पूरी सम्भावना है। लेकिन

लेकिन ललिता तो डिक को सदा कने ही देती है। यह नही कि उससे बोलती नही मौके पर खूब बोलती है। पर मानो उन बातो को बीच मे डालकर ही ललिता अपने और डिक के फासले को अनुल्लघनीय बना देती है। यह मैं डिक से सुनकर सब जानता हू, और यह भी जानता हू कि डिक इस अन्तर को जितना ही अनुल्लघनीय पाता है उतना ही देखता है कि एक अनिश्चित चाह उसे मानो और विवशता से चाबुक मार मारकर भडका रही है।

२

इधर ललिता मे एक अन्तर देख पडने लगा। हँसना एकदम सूक्ष्म हो गया है और हठात् वक्त-बेवक्त पढना शुरू हो गया है। अब वह बहुत पढती है। मानो जी उचाट रहता हो, और उसीको जबरदस्ती लगाये रखने के लिए ये सब प्रयत्न और प्रपञ्च किये जाते हो।

इधर एक खबर डिक के बारे मे भी लगी है। कुछ दिनो से उसका इधर आना कम हो गया है। अब अचानक पता चला कि उसने एक हिन्दी टयूटर लगा लिया है और हिन्दी प्रवेशिका के पहले भाग को खतम कर डालने म दत्तचित्त है।

ये लक्षण बडे शुभ मालूम होते हैं। मालम होता है, दोना म कुछ खटपट हो गयी है। नजदीक लाने मे इन छोटी-छोटी कलहो से अचूक और अमोघ चीज कोई नही। मालूम होता है, ललिता ने एक झिडकी से डिक को ठीक माग दिखा दिया है। और डिक अब उसी माग पर चलने की तैयारी कर रहा है।

इतना सब-कुछ समझने पर भी ललिता की ओर से मुझे खटका ही रहता है। मालूम नही वह किस लोक मे रहती है किस प्रणाली से सोचती है। उसके जी का भेद मैं नही समझ पाता।

मालूम होता है अब उसका जी ऐसी हालत में पहुच गया है जहा उसे थपक-थपककर सुलाये रखने की जरूरत होती है जहां उसे सबकी जिज्ञासु-दृष्टियो से छिपाकर रखना पडता है जहां सेउससे खुद-ही-खुद निबट लेना होता है।

मैं अदालत करके आया हू कपडे पूरे उतार नही पाया कि ललिता ने

बेधड़क मेरे कमरे मे आकर अपनी मेज की शिकायत न जाने कौन-सी बार दोहरायी।

"चाचाजी, मैंने कितनी बार आपसे मेज ठीक करवा देने के लिए कहा है!—यह क्या बात है?"

मैं मानता हू, मुझे कई बार कहा गया है। मैंने फिर भी कहा, "अच्छा, अच्छा, अब करवा दूगा।"

"कब से अच्छा-अच्छा ही हो रहा है। अभी करवा के दीजिये।"

"अभी?—अच्छा, अभी सही।"

"सही वही नही। मैं अभी करवा लूगी। आप तो यो ही टालते रहते हैं।"

"अब नही टालूगा। बस।"

"नही—"

"अभी, मिस्त्री काम से लौटे होगे। अभी कौन मिलेगा?"

"मिस्त्री दस मिल जायँगे। मिल जाय, तो मैं लगा लू?"

"हा-हा, लगा लो।"

यह कहकर उसे टाला, कपडे उतारे हाथ-मुह धोया, और अखबार लेकर ईजी चेयर पर पड गया।

कुछ देर बाद खुट-खुट कानो म पडी। 'नेशन' के अग्रलेख का तर्क मुझे ठीक नही लग रहा था, उसे पढ़ते-पढ़ते ऊंघ-सी भी आने लगी थी, तभी यह खुट-खुट सुनकर मैं अन्दर पहुचा।

"यह क्या है ललित?" कहता मैं ललिता के कमरे मे दाखिल हुआ कि देखता हू कि एक बढई काम मे लग रहा है।

"आपने कहा था न कि मिस्त्री लगा लेना?"

कहा था सो कहा होगा, पर मुझे उसकी कोई विशेष याद नहीं थी।

"तो तुम लपककर उसे बुला भी लायी? गोया तैयार ही बैठा रखा था।"

"नही। बाहर जाता दीख गया मैंने बुला लिया।"

"दिनभर काम करके लौट रहा होगा, सो तुमने बुला लिया! मजदूर बेचारे पर कोई भी दया नही करता—तुम्हारा क्या!"

"कोई बेगार थोड़े ही है।' ललिता ने कहा, "उजरत भी तो दी जायगी। यह तो इसमें खुश ही होगा।' और मुड़कर मिस्त्री से पूछा, 'क्यों—बाबा ?"

मिस्त्री बुड्ढा है। सिक्ख है। बड़ी लम्बी सफेद दाढ़ी है सफेद ही साफा है, आंखों में स्नेह और दीनता का रस है। ललिता के प्रश्न को सुन कर उसने ऐसे देखा जैसे मानो उसकी आंखों में की दीनता और स्नेह एकदम छलक आया है।—'बाबा!'—मानो इस ललिता के मुंह के सम्बोधन की मृदुता ने उसके प्राणों में सुख की एक सिहरन लहरा दी। उसने कहा—

'नहीं बेटी मुझे सबेरे से कोई काम नहीं मिला। मेरा घर यहां नहीं है। बहुत दूर है—बहुत दूर। पेशावर' तुमने सुना होगा, उसके पास 'अटक' है अटक के पास मेरा घर है। दरिया सिन्ध उसको छूकर बहता है। मैं यहां आज ही आया हूं। काम न मिलता तो न जाने मेरा क्या होता!'

दरिया सिन्ध के किनारेवाले हिन्दुस्तान के छोर पर के गांव से यह बुड्ढा सिक्ख नर्मदा के किनारे के हिन्दुस्तान के बीचोंबीच बसे हुए उस होशंगाबाद में इस प्रकार वे पैसे किस आफत का मारा आ पहुंचा—सो सब जानना मुझे आवश्यक न जान पड़ा। पर ललिता ने कुरेदकर उसकी कहानी पूछी। मैंने भी सुनी।

जब वह बुड्ढा नहीं था, जवान था—तब की बात है। दरिया में बाढ़ आ गयी। झोपड़ा बह गया खेत डूब गये। वह उसकी घरवाली और उसका एक छोटा लड़का—इन तीनों ने एक दूर गांव में जाकर आसरा लिया। पर खायें कहां से ? जो थोड़ा-बहुत नकद बाढ़ के मुंह में से बचा कर ले आ सके थे, उसे ही बैठे कब तक खायें ? ऐसे ही चिन्ता के वक्त उन्हें एक तरकीब सुझायी गयी। मद्रास वह चला जाय तो वहां बहुत आदमियों की जरूरत है खूब तनख्वाह मिलती है और भी सब सहूलियतें हैं खूब आराम है। थोड़े ही दिनों में मालामाल होकर लौट आ सकेगा। मद्रास पहुंचा, वहां से फिजी। घर से निकलने पर यह उसके बस का अब न रह गया था कि वह फिजी न जाय। तब फिजी न जाता तो शायद जेल जाना पड़ जाता और क्या ताज्जुब जो जान से ही हाथ धो बैठने का

मौका आ जाता। फिजी में हाड को और जान को पेलकर काम किया। पीछे से वहा कमाने का मौका हो सकता था, पर बच्चे की और घरवाली की याद ने वहा रहने न दिया। जहाज के टिकट लायक पैसा हुआ कि वह चल दिया। मद्रास आया। इन आरी और बसूला से ही उसने मद्रास में एक महीने तक अपना पेट भरा और इनसे ही एक महीने में बम्बई तक का किराया जुटाया। बम्बई में वह जैसे-तैसे पेट तो भर सका पर लाख कम खाने और हजार ज्यादा काम करने पर भी वह ऊपर से कुछ जुटा न सका। आखिर लाचार बेटिकट चल दिया। यहा होशगाबाद में टिकटवाले ने उतार दिया। वहा से वह अपने औजार सम्भाले चला जा रहा था। बहुत समझो, उसकी यह पूजी रेलवाला ने छोड दी।

कहानी सुनकर मुझे बुड्ढे पर रहम करने को जी चाहा।

पूछा, "ललित, कितने में ठहराया था ?"

"ठहराया तो कुछ नही ?"

'ठहराया नही ?'

'नही'

"अच्छा, जो ठहराती उससे एक आना ज्यादा देना।"

'अच्छा" और मुझसे सिर्फ यह जरा सा 'अच्छा' कहकर सिक्ख से उसने पूछा, "बाबा, तुम यहा रहोगे ?"

"ना बेटी।"

'क्यो, बाबा ?"

"घर तो अपना वही है। घर क्या छोडा जाता है ? फिर बच्चे को कब से नही देखा। बीस साल हो गये।'

'बाबा, क्या पता, वह मिलेगा ही। बीस बरस थोडे नही होते।"

'हा, क्या पता ! पर मैंने अपने हिस्से की काफी आफत भुगत ली है, परमात्मा अब इस बुड्ढे से उसका बचा खुचा सब-कुछ नही छीन लेंगे। मुझे भरोसा है, वह मुझे जरूर मिलेगा। हा, उसकी मा तो शायद ही मिले।"

ललिता के ढग से जान पडा, वह इतनी थोडी सी बातें करके सन्तुष्ट नही है। वह इस बुड्ढे से और बातें करना चाहती है। पर मुझे तो समय

वृथा नहीं गवाना। मैं फिर एक आना ज्यादा देने की हिदायत देकर चला आया।

वह बुड्ढा तो धीरे धीरे मेरे घर से हिलने लगा। ज्यादातर घर पर ही दीखता है। किसी-न किसी चीज को ठीक करता रहता। उसने घर के सारे पलगों को पालिश से चमका कर नया कर दिया। नयी नयी चीजें भी बहुत सी बना दीं। वह ललिता का विशेष कृपापात्र था और ललिता उसकी विशेष कृतज्ञता पात्र थीं। उसने एक बड़ा सुन्दर सिंगारदान ललिता को बनाकर दिया एक कैश-बक्स। मेरे लिए हैट स्टैण्ड, छड़िया वगैरह-वगैरह चीजें बनाकर दीं। मैंने भी समझा वह अपने लिए इस तरह ख्वाहमख्वाह मजदूरी बना लेता है, चलो इसमें गरीब का भला ही है।

लेकिन हरएक चीज की हद होनी चाहिए। गरीब की भलाई की जहां तक बात है वहां तक तो ठीक। पर उनमें दोस्ती भी कर लेना, उनको अपना-ही बना बैठना यह भी कोई बुद्धिमानी है! पर अल्हड़ ललिता यह कुछ नहीं समझती। उसका तो ज्यादा समय अब उस बुड्ढे से ही छोटी मोटी चीज बनवाते रहने में और उससे बातें करते रहने में बीतता है।

मैं यह भी देखता [illegible] कि बुड्ढा दीनता के अतिरिक्त और उम्र के अतिरिक्त और किसी बात में बुड्ढा नहीं है। बदन से खब हट्टा-कट्टा है लम्बा-चौड़ा है। दाढ़ी मूछों से भरा हुआ उसका चेहरा एक प्रकार की शक्ति से भी भरा है। यह मुझे अच्छा नहीं लगता। इसलिए मैंने उसे एक दिन बुला कर कहा—

'बुड्ढे अब गांव कब जाओगे?'

'गांव? कैसे जाऊंगा जी गांव?'

"क्या! "

"जी '

'देखो, थोड़ी-बहुत मदद की जरूरत हो मैं कर दूंगा। पर तुम्हें अब अपने बच्चे के पास जाना चाहिए। और और यहां जब काम होगा बुला लूंगा। तुम्हारा फिजूल आना जाना ठीक नहीं।'

बुड्ढा इस पर कुछ न बोला, मानो, उसे स्वीकार है। उसके बाद से वह घर पर बहुत कम दीखा। एक बार आया तो मैंने जवाब-तलब

किया—"बुड्ढे, क्या आये ?—क्या काम है ?"

"जी, बिटिया ने बुलाया था।"

ललिता का अब यह बिटिया कहेगा ! इतना बढन देना ठीक नही। मैंने जोर से कहा, ' बिटिया ?—कौन बिटिया ?"

' यही आपकी "

देखो, बुड्ढे गुस्ताखी अच्छी नही होती।"

इस पर बुड्ढा बहुत कुछ गिडगिडाया, 'गुस्ताखी नही,' गुस्ताखी नही' और उसने बहुत सी शपथें खाकर विश्वास दिलाया वह कभी अपने को हमारी बराबर नही समझता, 'आप तो राजा हो हम तो किंकर हैं, नाचीज हैं,' और 'वह तो मालकिन है, साक्षात राजरानी है' आदि—और अन्त म धरती पर माथा टेककर चला गया।

बुड्ढे की ओर से मुझे निश्चिन्तता मिली। पर उसी रात को मेरे पास आया डिक। उसने बताया वह 'हिन्दी शिक्षावली दो भाग खतम कर चुका है। वह अब जल्दी ही इग्लड वापस चला जायगा पर ललिता क बिना कैसे रहेगा ? उसने अपन पैसे के, अपनी योग्यता के, अपनी स्थिति के, सक्षेप मे अपने बडप्पन के वणन पेश किये, अपना प्रेम जतलाया और उसके स्थायित्व की शपथ खायी। इस तरह अपना सम्पूर्ण केस रखने क बाद मेरी सहमति चाही। पर मेरी सहमति का प्रश्न नही था। मेरी तो उसम हर तरह की मति और सहमति थी। मैंने आश्वासन दिया—

"कल ललित से जिक्र करूगा।'

' देखिये, मैं नहीं जानता क्या बात है। पर मुझे ललिता को अवश्य पाना चाहिए। मेरी उमसे बातचीत हुई है—खूब हुई है। वह मेरे गोरेपन से घबराती है, पर मैं उसन भी कह चुका हू, आप मे भी कहता हू, इसमे मेरा दोप तो है नही। फिर हिन्दी मैं सीखता जा रहा हू। वह कहती है, मुझमे और उसमे बहुत अन्तर ह। मैं मानता हू—है। न होना तो बात ही क्या थी। पर हम एक हुए तो मैं कहता हू, सब अन्तर बह जायगा, मैं सब अन्तर बहा डालूगा। जो वह चाहेगी सो हो करूगा।

मैंने उसे विश्वास दिलाया, मैं भरसक करूगा। किन्तु अच्छा होता ललिता को ही माफिक कर लिया जाता।"

उसने कहा ललिता के भारतीय वातावरण में पले होने के कारण बिल्कुल स्वाभाविक है कि वह इस सम्बन्ध में अपनी आज्ञा अपने अभिभावक से प्राप्त करे। इसीलिए उसने मुझसे कहना ठीक समझा।"

मैंने फिर उसे वही विश्वास दिलाया, और वह मेरी चेष्टा में सफलता की कामना मनाता हुआ चला गया।

५

अगले रोज ललिता से जिक्र छेड़ा।

"ललिता रात डिक आया था।'

ललिता चुप।

"तुम जानती हो, वह क्या चाहता है। तुम यह भी जानती हो कि मैं क्या चाहता हूं।

वह चुप। वह चुप ही रही।

मैंने सब ऊंच-नीच उसे बताया, अपनी स्पष्ट इच्छा—यदि आज्ञा हो सके तो आज्ञा—जतला दी, ऐसे सम्बन्धों का औचित्य प्रतिपादन किया (संक्षेप में) सब-कुछ कहा। मेरी बात खतम न हो गयी तब तक, वह गम्भीर, मुंह लटकाये एक ध्यान एक मुद्रा से, निश्चल खड़ी रही। मेरी बात खतम हुई कि उसने पूछा—

'बाबा को आने से आपने मना किया था?"

कहां की बात कहां? मैं समझ नहीं पाया 'कौन बाबा?'

'वही बुड्ढा सिक्ख मिस्त्री।"

हां, मैंने समझाया था, उसके फिजूल आने की जरूरत नहीं।

"तो उनसे (डिक से) कहिये मैं अपने को इतनी सौभाग्यवती नहीं बना सकती। मुझ नीच नाचीज की फिक्र छोड़ें।"

मुझे बड़ा धक्का लगा। मुंह से निकला, 'ललिता "

'उनसे कह दीजियेगा बस।

इतना कहते ही वह चली गयी और मैं कुछ भी न समझ सका।

अगले रोज कचहरी से लौटा तो घर पर ललिता न थी। कालिज में दिखवाया उसकी महिला मित्रों के यहां पुछवाया। फिर उस बुड्ढे मिस्त्री के यहां ढुंढवाया। वह न मिली। वह बुड्ढा भी गायब था।

६

पूरा यकीन है, पुलिस ने खोज मे कमी न की और पूरा अचरज है कि वह खोज कामयाब नही हुई। मैं समझता हू वह सिक्ख सीधा आदमी न था। छटा बदमाश है, और उस्ताद है, पुलिस की आख बचाने का हुनर जानता है।

डिक को जब इस दुर्घटना की सूचना और ललिता का सदेश मैंने दिया तो डिक बेचैन हो उठा। उसने खुद दौड़ धूप मे कसर न छोडी। पर कुछ नतीजा न निकला। डिक खुद अटक हो आया, पर वहा से भी जब कुछ खबर न लग सका।

हम सब लोगो ने स्त्रियो के भगाये जाने और बेच दिये जाने की खबरो को याद किया, और यद्यपि इस घटना का उन विवरणो से हम पूरा मेल न मिला सके, फिर भी समझ लिया, यह भी एक वैसी ही घटना हो गयी है। वह बुड्ढा सिक्ख जरूर कोई इसी पेशे का आदमी है। चालाक है, जाने ललिता को कैसे बहका ले गया।

७

कोई इसके महीने भर के बाद की ही बात है। एक दिन मेरे अदालत मे ही कमरे मे डिक ने आकर मुझे एक तार दिखाया। कैम्बेलपुर के कलक्टर का तार था। उक्त विवरण की लडकी के साथ एक बूढा सिक्ख पाया गया है। वह गिरफ्तार करके होशगाबाद ही लाया जा रहा है। लडकी ने मुझसे (कलक्टर से) बोलने से इन्कार कर दिया, इससे मैं उसे समझाकर होशगाबाद न भिजवा सका।

हमे बडी खुशी हुई। डिक फौरन ही कैम्बेलपुर जाने को उतावला हो उठा, पर मैंने रोक लिया—

'पहले, उसे आ तो जाने दो। देखो, कौन है कौन नही।"

इसके तीसरे रोज मुझे ललिता की एक चिट्ठी मिली। चिट्ठी बहुत सक्षिप्त थी। मैंने अब तक ललिता की कोई चिट्ठी नही पायी, कोई मौका ही नही आया। लिखा था—

"चाचाजी,

पिताजी के बाद बहुत थोड़े दिन तक मैंने आपको कष्ट दिया। इसलिए

पिताजी के नाते भी और अपने निज के नाते भी मेरा आप पर बहुत हक है। उस सबके बदले मे आपसे एक बात मागती हू। उसके बाद और कुछ न मागूगी, समझिये मेरा हक ही निबट जायगा। बाबा गिरफ्तार कर लिये गये हैं। उन्हे छुड़वाकर घर ही भिजवा दें, खर्च उनके पास न हो, तो वह भी दे दें। आपकी—ललिता"

चिट्ठी मे पता नही था, और कुछ भी नही था। पर ललिता की चिट्ठी मानो ललिता ही बनकर मेरे हाथो मे कापती-कापती मुझसे अपना अनुनय मनवा लेना चाहती है।

अगले रोज जेल-सुपरिण्टेंडेण्ट ने मुझे बुलवा भेजा। वही बुड्ढा सिक्ख मेरे सामने हाजिर हुआ। आते ही धरती पर माथा टेककर गिड़-गिड़ाने लगा, "राजा जी"

"क्यों बुड्ढे, मैंने तेरे साथ रहम बरता। तूने शैतानी?"

'राजाजी' और 'हुजूर' यही दो शब्द अदल-बदलकर उसके मुह से निकलते रहे।

"अच्छा, अब क्या चाहता है?"

"हुजूर जो मर्जी।"

"मर्जी क्या, तुझे जेल होगी। काम ही ऐसा किया है।"

"हुजूर नही-नही—राजाजी!"

"क्यो रे मेरी लड़की को ले भागनेवाला तू कौन था, बदमाश पाजी?"

"नही नही-नही"

उसके बिना कहे ही मैं समझता जा रहा था कि वह किन्ही विकट लाचारियों का शिकार बनाया गया है। लेकिन उस घटना पर जो क्षोभ मुझे भुगतना पड़ा था, वह उतरना तो चाहिए। इसलिए मैंने उसे काफी कह-सुन लिया। फिर उसे रिहा कर देने का बन्दोबस्त कर दिया।

छूटकर वह मेरे ही घर आया।

'राजाजी'

उसकी गड़बड़ गिड़गिड़ाहट म से मैंने नतीजा निकाला वह खाली हाथ है किराये को पैसा चाहता है तुरत वह घर चला जायगा नहीं तो उसको नौकरी या मजदूरी करा दी जाय।

मैंने उसे घर पर रहकर काम करने का हुक्म दिया।

डिक को मैंने सूचना दी—वह बुड्ढा सिक्ख आ गया है। डिक ने कहा, "उसे छुट्टा लिया जाय। उसे साथ लेकर उसके गाव चलेंगे।"

"छुट्टा लिया है। तो गाव चलोगे ?"

"हां, जरूर, अभी।"

हम दोनों बुड्ढे को साथ लेकर चल दिये। हमने देखा, बुड्ढा बिलकुल मनहूस नही है। बड़प्पन के आगे तो वह निरीह दीन हो जाता है, पर अगर उससे सहानुभूतिपूर्वक हँस खुलकर बोला जाय तो वह बड़ा खुश-मिजाज निकल आता है। उसने सफर में तरह-तरह की हमारी सेवाएं की, तरह-तरह के किस्से सुनाये—लेकिन उस खास विषय पर किसी ने जिक्र नहीं उठाया मानो वह विषय सबके हृदय के इतना समीप है कि जरा उंगली छुई कि वह कसक उठेगा।

८ :

सिन्धु घहराता हुआ बह रहा है और हम स्लेटी-पत्थरों के बीच एक पगडण्डी से चुपचाप चल रहे हैं—पैदल।

एक छोटे से गाव के किनारे हम आ गये। पच्चीस तीस घर होंगे। नीचे छतें हैं, उनसे भी नीचे दरवाजे हैं। शाम हो गयी है। हरित भीम-काय उत्तुंग पर्वतमालाओं की गोद में, इस प्रशान्त—स्निग्ध सन्ध्या में यह खेड़ा, इस अजेय प्रवाह से बहते हुए सिन्धु के किनारे, विश्व के इस एकान्त, शान्त, अज्ञात और गुप चुप छिपे हुए कोने में, मानो दुनिया की व्यर्थ व्यस्तता और कोलाहल के प्रतिवाद-स्वरूप विश्राम लेता पड़ा है। प्रकृति स्थिर, निमग्न, निश्चेष्ट मानो किसी सजीव राग में तन्मय हो रही है। यह खेड़ा भी मानो उसी राग के मौन समारोह में योग दे रहा है।

इन मुट्ठी भर मकानों से अलग-अलग, जरा-ऊंची टेकड़ी सी पर एक नया ही छा-छू लिया हुआ झोंपड़ा आया और बुड्ढे ने हमें खबरदार कर दिया। बुड्ढे ने उंगली ओठों पर रखकर संकेत किया—हमको यहीं, चुप ठहर जाना चाहिए। हम तीनों वहीं खड़े हो गये, मानो सांस भी रोक लेना चाहते हैं, ऐसे निस्तब्ध भाव से।

तभी आवाज आयी।—"अभी नहीं, सबक खतम कर दो।

तब चलेंगे।'

ओह ललिता की आवाज है! दिल का तो कलेजा ही उछलकर मुंह तक आ गया। पर हम ज्यों का त्यों रहे।

एक भारी अनपढ़, दबी—मानो आशा के बोझ से दबी—आवाज में सुनाई पड़ा—

—"दिस इज ए चे चअर।"

हां चेअर ठीक चेअर। गो औन।"

दो-तीन ऐसे लड़खड़ाते वाक्य और पढ़े गए और इसी प्रकार उन पर दाद दी गयी। फिर उसी बारीक, उकसाती हुई और चाहभरी आवाज में सुना पड़ा—

'अच्छा, जाने दो। चलो दरिया चलें। लेट स गो।"

हम ओट में छिप रहे। दोनों निकले। ललिता और वह—वह कौन? शक्ल ठीक नहीं दीख पड़ी, पर देखा, खूब डील डौल का जवान है। पट्ठे भरे हैं चाल में धमक है—पर सब में सादगी है।

ललिता ने उसके बायें हाथ की अंगुलियां थाम रखी हैं। उन्हीं अंगुलियों से खेलती चल रही है।

मैंने बुड्ढे से पूछा—"यह कौन है?"

'मेरा लड़का—पुरमसिंह।" शायद पुरुपसिंह वह ठीक न बोल सका हो।

तब उस बुड्ढे ने कहा 'आओ चलें देखें।"

हम चुपचाप उसके साथ चले।

सिन्धु सामने ही तो है। एक बड़ी-सी चट्टान के पास ऐसे खड़े हो गए कि उन दोनों की निगाहों से बचे रहें।

"यू पोरस, वह क्या बह रहा है? लाओगे?—ला सकते हो?—कैन यू?' ललित की आवाज सुन पड़ी।

'वाह क्या बात!—लो।"

ऊंची धोती पर एक लम्बा-सा कुर्ता तो पहन ही रखा था। उतारा और उस सिन्धु के हिंस्र प्रवाह में कूद पड़ा। लकड़ी का टुकड़ा था, किनारे से १५ गज दूर होगा, हमारे देखते-देखते ले आया।

हँसता-दौड़ता आया ललिता के पास। बोला, "ले आया !—बस ? पर दूगा नहीं। गीली चिकनी लकड़ी है, बुरी—दूगा नहीं।" इतना कहकर फिर उसने वह लकड़ी भरपूर जोर से धार में फेंक दी।

ललिता ने कहा—

'यू नॉटी "

मैं अपने को सम्भाल न सका। चट्टान के पीछे से ही बोल पड़ा—

"यू नॉटिएस्ट "

और बोलने के साथ ही हम तीन, उसके सामने आविर्भूत हो पड़े।

"हलो, अंकिल ! एण्ड, ओह, हल्लो, डिक ! हाऊ डू यू डू, डीअर डिक ? एण्ड, ओह, माई डीअर फादर !—व्हाट लक !"[1]

कहकर उसने बुड्ढे का हाथ चूमकर पहले उसका अभिवादन किया।
— सी यू माई पोरस,—डिक ? किंग पोरस ऑफ हिस्टरी, माइंड यू ! इज ही नाट एज फ़अर यू योर सेल्फ"[2]—डिक को वाग्विमूढ़ छोड़ पोरस की ओर मुड़कर कहा, 'माई अंकिल मेरे चाचा, एंड दैट माई डीअर डीअर फ्रैंड डिक, और वह डिक मेरा खूब प्यारा दोस्त !"

पोरस घुटन तक आयी हुई गीली धोती और नंगा बदन लिये, डिक अंग्रेज और मुझ जन के सामने इस परिचय पर हँस दिया। मानो उसे हमारा परिचय खुशी से स्वीकार है। रेख अभी नहीं फूटी है, बदन और चेहरा भरा पूरा है आखें भोलेपन और खुशी से हँस रही हैं। मुझे यह मूर्ति स्वास्थ्य, सुख और प्रसन्नता से खिली हुई—मानो गढ़ी हुई—यह मानव मूर्ति अरुचिकर न जान पड़ी।

'पोरस, यू चाचा को सिर नवाओ।"

उसने दोना हाथ जोड़कर सभक्ति सिर नवाया।

तब डिक का हाथ बढ़ा। उसने पोरस का हाथ 'शेक' करते

---

१ 'अरे चाचा ! अरे ओह डिक तुम भी ! सकुशल हो न ! और वाह, पिताजी आप भी ! मेरा कैसा सौभाग्य !'

२ 'मेरे पोरस को देखते हो, डिक ? वही इतिहास वाला राजा पोरस याद है न ? वह क्या तुम जैसा ही सुन्दर नहीं है ?"

हुए कहा—

'पोरस तुम राजा है। हम हारता है और हम खुश है।"

वैसे ही पोरस के हाथ को थामे हुए, ललिता की ओर मुड़कर उसने कहा—

"ललित डीअर, आई काग्रेच्युलेट यू ऑन योर ट्रेजर, ऑन योर विक्ट्री, ऑन योर किंग! इन ट्रुथ, आई डू। हीअर'ज माई हैण्ड।"[1] और ललिता का हाथ झकझोर दिया।

"लॉग लिव पोरस, आई से—एण्ड आइ बि सव्ड!"

मालूम नहीं, इसकी आवश्यकता थी या नहीं। जिन्हें भाग्य ने मिलाया जो नर्मदा के किनारे से इतना दूर यहां सिन्धु के किनारे आ मिले, उन्हें और क्या चाहिए था। फिर भी मुझसे उनका बाकायदा पाणिग्रहण करवाया गया।

बुड्ढा फिर मेरे यहां नौकर हो गया। पर पोरस और उसकी रानी अपने राज्य से नहीं हटे और उन्होंने मेरी मदद भी नहीं ली। वहीं उस झोंपड़े में, उस हरियाली और शान्ति की गोद में और उस सिन्धु के तीर ही रहते रहे।

---

१ 'प्रिय ललित तुम्हारी इस निधि, इस विजय और तुम्हारे इन बादशाह पर तुम्हें बधाई देता हूं। सच, मैं बधाई देता हूं, और शुभ कामना के प्रमाण में यह लो मेरा हाथ।'—'शेक-हैण्ड' अभिवादन की पाश्चात्य प्रणाली है यह पाठक जानते ही हैं।

भाभी

१

एफ० ए० पास करने के बाद यह पता चला लेन मे विनयचन्द्र को बहुत देने न लगी कि यह कोई बहुत बडी बात नही है। इनसे दुनिया में जीवन निबाहने मे कुछ बहुत सुभीता हो जाता हो, सो उस दखने मे नहीं आया। बल्कि दिक्कत बढ जाती है। क्योंकि परिस्थिति वही रहती है, आकाक्षाए बेहिसाब बढ़ बढ़ उठती है। इनमें द्वन्द्व का नाम है क्लेश। वतमान के सत्य और भविष्य के स्वप्न को लोग एक सूत्र म गुथे हुए एकमएक न देखकर अपनी अज्ञानता से अपने भीतर जब उन्हें टकरा बैठते हैं, तब उत्पन्न होता है विग्रह अर्थात् दुःख। कच्ची पढ़ाई ने आशाए उद्दाम हो जाती हैं, विग्रह बढ़ता है। स्पष्ट है कि विग्रह जितना गहरा, द्वन्द्व जितना तीव्र, परिस्थितियां और आशाओं का अन्तर जितना दुर्लंघ्य, और 'जो है' उससे रुष्ट होकर 'जो चाहिए' उस पा जाने की आसक्ति जितनी ही अन्धी होगी, दुःख उतना ही कष्टकर होगा। एफ० ए०, बी० ए० की पढ़ाई मे ऐसा ही होता है।

यह तो गनीमत हुई कि विनयचन्द्र मे नाम पढ़ाई के अतिरिक्त कुछ और वस्तु भी थी। ठाली बैठे वह चित्र खींचा करता था। सीखा साखा कही नहीं, पर बिलकुल बुरे चित्र न खींचता था। एक बासुरी भी उसके पास थी। इसलिए, कही पढ़ाई का जहर उसे पूरी तरह नही चढ पाया। इसीलिए जब दो महीने तक कोई नौकरी का सिलसिला हाथ नहीं आया और गाव छोड़कर अपनी अकेली मां को साथ लेकर किसी शहर में भाग्य-के लिए जा पहुचन आजमाने को उसने अपने को लाचार पाया, तब जितना और को होता उतना दुस्सह दुख उसे नहीं हुआ।

मा के अकेला बेटा है और बेटे की अकेली मा है। यह कहिए कि और कोई नही है क्योंकि जो हैं, वे इन मा बेटो के लिए नहीं के बराबर

नहीं है, ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिला।

एफ० ए० तक विनय कैसे पढ़ा, इसका सब हाल हम नहीं जानते। हां, जानना जरूर चाहते हैं। क्योंकि हम अचरज है कैसे पढ़ लिया। आजकल की पढ़ाई के लिए जरूरी अमीरी और अपनी निपट गरीबी को इन मां-बेटा ने मिलकर खींचतान करके, आज इस एफ० ए० पास करने के दिन तक किस प्रकार जोड़े रखा, यह हम भी जान लेना चाहते हैं। पर अब नहीं चल सकता। बी० ए० के स्वप्न लेना अवश्य छोड़ देना पड़ेगा।

मां सदा से ऐसी थी सो, हमें मालूम हुआ, नहीं है। कभी पैसा था, विनय के बाप थे, मकान दुकान और तब कुटुम्बी पड़ोसी भी थे। पर विनय के बाप आंख मूंदकर चल दिए। सब पैसा हाट-हवेली भी जाने जल्दी में कहां खिसककर चल दिये। जैसे यमदेव का पेट छोटा नहीं है, विनय के बाप को चुपचाप खींचकर समा गया, उसी तरह अदालत, सरकार और दुनिया के और लोगों के पेट छोटे नहीं हैं। बाकी जो कुछ था, बेमालूम ढंग से वह उसमें समा गया। वह दो साल का विनय भी तब चलने को हो गया था लेकिन मा ने और चारों ओर से आंखें मूंदकर भरजोर कसकर इसे पकड़े रखा, जाने नहीं दिया। ऐसे समय शेष वस्तुओं और शेष लोगों को बड़ा सुयोग प्राप्त हो गया। धूल झोंकने की भी जरूरत नहीं हुई, आखें यों ही मुंदी थीं। इस तरह दिन और धन दोनों दहाड़ते रह गये, और सब कुछ लुट गया। और गांव वालों को मानो पता भी न लगा।

जाय कहां ?—यह प्रश्न अब मुंह फाड़कर सामने खड़ा हो गया। इसके हल का कोई उपाय ही नहीं दिखता। विनय के मित्रों की नामावली इसके हल में कुछ भी काम नहीं आती। ऐसे समय मां को बीते दिनों की एक घटना याद आ गयी। वही काम भी आयी। मां ने कहा 'बेटा कानपुर चलो। वहां तुम्हें कहीं नौकरी भी लग जायगी और बैठने को जगह भी मिल जायगी।'

बहुत दिन की बात हुई। विनय पूरा साल का नहीं हुआ था। ये सब लोग तीर्थ-यात्रा को चले थे। रास्ते में एक और परिवार साथ हो गया था। उन पर कुछ सकट आया था, तभी संयोग से इनका परिचय

हुआ। इनके कारण सकट से उन्हे छुटकारा मिला। तब कानपुर के उस प्रेमी परिवार न इन्हे अपने से बिछुडने न दिया। दो महीने की लम्बी यात्रा भर सब साथ रहे। उनके एक पुत्र था, जो विनय से तीन चार साल बडा होगा। वे भी तीन ही थे। माता पिता और पुत्र। बच्चो-बच्चो मे दोस्ती हो गयी, पिताओ म सौहार्द उत्पन्न हो गया, और माताओ मे वह अटूट अभिन्न सम्बन्ध स्थापित हुआ जो स्मरण स मिटे नही। वह मा बडी स्नेहशीला थी। अलहदा होते वक्त विनय को बहुत-बहुत चूमकर इन धमप्राणा मा ने कहा था, 'देखो जब बने कानपुर आना। जरूर आना। अपना ही घर समझना और हमे भूलना मत। और खबर अपनी देती रहना।"

यह बिछोह दोना ओर के स्नेहाश्रुओ से एकन्म कैसा मीठा और कैसा कडुवा हो गया था वह विनय की मा को कल की सी बात की तरह याद हो आया। भीतर से तब ऐसा विश्वास और स्नेह का भाव उमड आया कि मा ने कहा "बेटा कानपुर चलो।'

विनय अब उन्नीस साल का है। अठारह बरस से ऊपर हो गए इस बात को। इस बीच कितना पानी बह गया। खत पत्र एक भी नही आया-गया। एक को पता नही, दूसरे की दुनिया मे क्या कुछ बीत गया। इधर विनय दुधमुहे से कालीजिमेट हो गया है, मा तरुणी से बढते-बढते बढा होने के निकट आ रही है पति महायात्रा कर चुके हे और सम्पन्नता को मिटाकर घर मे अकिञ्चनता आकर डट गयी है। उधर क्या कुछ न हो गया हो!

लेकिन मा ने तीन सौ पसठ दिन वाले बडे-बडे अठारह बरसो के पार्थक्य को शून्य बनाकर विनय से कहा, 'बेटा कानपुर चलो।"

विनय ने मालूम किया, मा कानपुर जसे बिगाने और बडे शहर मे जाने की बात किस बिरते पर कह रही हैं। कहा वे लाग न मिल तो बडी कठिनता होगी, मा।" मा ने कहा, मिलेंगे। मिलेंगे क्यो नही?'

इस जवाब की हठधर्मी और मूढता का भी कुछ ठिकाना है। विनय ने कहा, "इतनी पुरानी जान पहचान के आसरे वहा जा पहुचना ठीक नही होगा, मा! और जान पहचान भी खास नही। और क्या पता कैसी

हालत में हो कभी में नहीं ! फिर तुम्हें वे पहचान ही लेंगे, इसका भी भरोसा नहीं। और मां, मैं कहता हूं, किस तरह से जाकर उन्नीस साल पुरानी बात को याद दिलाकर तुम बताओगी कि तुम उनके आतिथ्य की अधिकारिणी हो। मेरी समझ में तो यह ठीक नहीं है।"

लेकिन मां ने हृदय को अकस्मात वेग से उठ खड़े हुए विश्वास ने फैलकर एमा भर लिया है कि सहज बुद्धि से समझ में आ सकने वाली इन संकट की सम्भावनाओं को टिकने के लिए वहां तक ठौर नहीं मिल पाता है। मां ने कहा वहीं चलो, मैं कहती तो हूं। नहीं तो तुम जानो।"

किन्तु ऐसी बात जानने का जिम्मा विनय के सिर डालकर जब उसे निबटारा करने के लिए स्वतन्त्र कर दिया जाता है तब वह अपने को असहाय अनुभव करता है। उसने कहा मैं कहता था, यह ठीक नहीं है। बाकी तुम कहती हो तो वहीं चलना होगा।"

मां, 'हां मैं कहती तो हूं।"

विनय 'और दूसरी जगह भी अभी दिखाई नहीं देती।"

मां "राम चाहेगा तो दूसरी जगह की फिकर करने की जरूरत नहीं आएगी।"

राम का भरोसा पकड़कर यह मां, जो एकदम अज्ञात अंधेरे में कूद पड़ने का साहस रखती है, वह साहस एकदम दुस्साहस और अन्ध-साहस है यह विनय मानता है लेकिन उधर से मां को मोड़ने का बल नहीं रखता, वरन परिस्थितिवश हठात् स्वयं भी उसी में खिंचा जा रहा है। उसने कहा "अच्छी बात है चलो।'

सब तैयारी कर कराकर आखिर एक दिन यह मां, अपने बेटे के साथ विश्वास के उस सूक्ष्म तन्तु का सहारा थामे कानपुर के लिए चल पड़ी। यह तन्तु बहुत कम लोगों के हाथ आता है। खोया रहता है। दिल की तरह इतना नाजुक है कि छन में लचक जाता है और टूट जाता है। साथ ही इतना अटूट है कि दिलवाले इसी पर अपना सब बोझ डालकर भव-सागर तर जाते हैं।

२

लाला धनीराम के परिवार मे इन अठारह सालो मे धन की और जन की कुछ वृद्धि ही हुई है। भाग्य का बूढ़ा देवता बैठा बैठा ऐसा ही जुए का-सा खेल करता रहता है। यहा से दो को रूप कर दिया, वहां दो को जनना दिया। इसकी जेब मे से निकालकर एक मसान देखा उसकी जेब का भरकर उधर दूसरे तमाशे का सामान कर दिया। यह बड़ा खेल का शौकीन है। तो क्या हम उसकी नीयत पर हमला करें? तो बात नहीं होनी चाहिए। द्यूतप्रेमी न हो तो भाग्य भाग्य क्या रहा! और करनेवाला और बदला लेने वाला हो तो देवता वह क्या रह गया, आदमी ही न हुआ। सो, खेल-खेल मे उसने विनय की मां का घर उजाड़ा है तो लाला धनीराम के घर को गुलजार बना रखा है। सब आराम है, बड़ी दुकान है, बल्कि दो दुकानें हैं। घोड़ा-गाड़ी भी है। और सबसे बढ़कर है कांतिवान जवान पुत्र, और सुशीला पुत्र वधू। बहू के दो बालक है। बड़ा पुत्र आठ बरस का होगा, छोटी कन्या तोतली बोलती है, तीसरे बरस मे है, बड़ी अच्छी लगती है। लाला धनीराम वृद्ध हो गये हैं, पर खूब सक्षम हैं। सुबह उठते ही खूब दूर घूमने को जाते हैं। उनकी पत्नी धर्मशीला हैं, धर्म काम खूब करती रहती हैं।

विनय की मा थोड़ा भटककर अन्त मे इस घर पर आ ही लगीं। सामान धर्मशाला मे कहीं छोड़ आयी थी। विनय को साथ लेती आया थी।

विनय को बाहर ही छोड़ा, आप अन्दर गयीं।

उस वक्त ग्यारह बजे होंगे। चौके चूल्हे का समय था। बड़ी मां जी भी और बहू भी चौके मे ही थी। बालक रामू मकान के आंगन मे बीच मे खड़ा होकर मोटर उलटकर बड़े गौर से उसके जिस्म को देख रहा था। कारण, मोटर चलते चलते शरारत करके एकदम खड़ी हो गई थी। चाबी पूरी खत्म हुई नहीं, फिर यह सुसरी क्यों रुक गयी, इसी का कारण जान कर दण्डविधान जारी करके फिर सब काम क्यों का त्यों ठीक कर देना होगा। इसी अपने दायित्व से उऋण होने की मुश्किल खोजने मे व्यस्त था और पास ही अपने भाई की आराधना मे बैठी थी।

तुतली पचा रही थी। और एक ओर नौकरानी इन बालकों की निश्चित व्यस्तता के कारण कुछ अवकाश पाकर मेज के आगे खड़ी होकर दर्पण में अपनी छवि देखने और बालों को कघी देकर जरा ठीक करने में लग गयी थी।

विनय की मा ने घर में प्रवेश करके और किसी को सामने न पाकर इस व्यस्त बालक को सम्बोधन करके पूछा, "बहनजी कहां हैं?"

बालक ने इनकी ओर देखा। पूछा, 'क्या क्या काम है?"

पचा भी इन नवागता को देखती रह गयी। मानो भाई ने न पूछ लिया होता तो यह जवाब-तलब करने को तैयार है ही कि 'क्यों क्या काम है?'

मां ने उत्तर दिया, उनसे कहो कि कोई आपसे मिलना चाहता है।"

अब तक अपनी छवि देखती हुई उस दासी को भी चेत हो गया था। इस बांके श्याम सौन्दर्य के आगे भी वह कहार का छोकरा क्या इधर उधर आंख डालता है और लोग क्या इतने मूर्ख हैं कि वे इन चरणों में आकर नहीं लोट पोट होते दर्पण के सामने खड़ी होकर वह यही बातें सोचने में लगी थी। और इसी सिलसिले में अभी हाल उसने पता पाया था कि बायीं ओर के बाल जो माथे के आगे लाकर चिपकाकर, बल डालकर फिर पीछे को ले जाये गये हैं वे कम आगे आये हैं। क्यों न उन्हें और लाने का उपक्रम करती ही थी कि यह औरत आ कूदी। उसने झपटकर सामने पहुंचकर कहा 'क्या कहती हो किसे चाहती हो?' कहने के साथ ही एक निगाह में उसने ऊपर से नीचे तक उसे देख लिया।

मा ने दीन होकर कहा 'मैं पूछती थी कि बहनजी कहां हैं?

कौन भैनजी?"

वही जिनका यह घर है?'

"किन का घर है?

'बहनजी का। उन्हीं को मैं पूछती हूं"

"अरे तो फिर वह कौन हैं?'

लाला धनीराम का नाम तो वह जानती है लेकिन उसका नाम इस मौके पर ले या न ले यह नहीं जानती। उसने कहा, "मैं बड़ी दूर से आयी हूं। उन्हीं के लिए आयी हूं।

"क्या काम है ?"

"काम तो क्या, मिलने आयी हूं।"

"क्या मिलने आयी हो ?"

"यों ही मिलने आ गयी हूं।"

दासी ने कहा 'मिलने आयी हो तो फिर कभी आना। अभी वह नहीं मिल सकती।"

उस समय बालक रामू ने जोर से चिल्लाकर कहा, 'अम्मा, कोई तुमसे मिलने आयी हैं।"

मा जी ने चौके में से ही जोर से आवाज देकर कहा, "कौन है ? उन्हें ऊपर कमरे में ले आ।"

बालक ने कहा, 'चलो। बुलाती हैं।"

मा के गये प्राण लौट आये। वह ऊपर कमरे में गयी और भांति-भांति की चीजों से भरे हुए उस कमरे में पहुंचकर सोच न सकी, क्या करना चाहिए। खड़ी-खड़ी उसे देखती रह गयी। थोड़ी देर में घर की मालकिन का आना हुआ। अभ्यागतानुरूप बैठाकर पूछा, "कहां से आना हुआ ? मेरे लिए क्या काम है ?"

उन्होंने कहा 'बहनजी, मुझे पहचाना नहीं ?'

लेकिन बहनजी अब भी पहचान न सकीं। विनय की मा की आंखों में आंसू आने को हो गये। अपने को पहचाननेवाला होगा, यह कैसी विडम्बना है। बड़ा बल लगाकर बोलीं, 'यों ही मिलने चली आयी और कुछ काम तो नहीं था।"

"चली आयीं तो अच्छा ही किया। यह तो तुम्हारा ही घर है, लेकिन मुझे बिलकुल ही याद नहीं, मैंने कब और कहां आपको देखा। मेरा ऐसा दुर्भाग्य है कि मैं भूल जाती हूं। याद मेरी ऐसी ही है बड़ी कच्ची है। आप मुझे जरा तो मदद कीजिये, फिर सब याद आ जायगा।'

विनय की मा ने कहा, "जिसको तुमने अयोध्याजी में बहन बनाया था, उसे भूल जाओगी बहनजी ?"

एक ही झटके में स्मृति का द्वार खुल पड़ा और बहुत-सी बातें उखड़-उखड़कर ऐसी सामने आती चली गयीं जैसे द्वार के उस ओर झटपट दौड़

आने के लिए अवसर पाने की प्रतीक्षा कर रही थी।

उस समय गले मिलकर, हँसकर, बोलकर तरह-तरह से उन्होंने अपनी प्रसन्नता प्रकट की और आग्रहपूर्वक विनय की मां के अब तक के दिनों का इतिहास पूछकर जान लिया। विनय की मां किसी विधि से अपने को रोक न सकी। स्नेह के आगे गोपनीय क्या कुछ रखा जा सकता है और यह भी कह दिया कि वह उन्हीं के आसरे का भरोसा बांधकर दुनिया में जी रही है और यहां आ गयी है।

रामू की दादी ने पूछा, "अच्छा, सामान कहां है ?"

"धर्मशाला में रखा है।"

"क्यों, वहां क्या रख छोड़ा ? और विन्नू कहां है ?"

"वह तो बाहर ही होगा।"

"हैं बाहर !" कहकर रामू को आवाज दी। रामू को कहा कि बाहर कोई खड़े हैं उन्हें यहां ले आ। रामू के चले जाने पर विनय की मां से कहा, "तुम्हारे पोते पोती हो गये और विनय बड़ा ही न हो। गिरधर यहां नहीं है क्या ?"

"वह तो अब दुकान पर होगा। वहीं रहता है। सब काम धाम उसीके ऊपर है नहीं तो नौकर लोग "

तभी आ पहुंचा रामू विनय को लेकर। विनय की युवावस्था की विनयशील और शर्माती हुई मुद्रा को देखकर इस महिला के जी में आया कि किसी तरह इस विनयावनत लजीले युवक को प्रत्यक्ष हो जाता कि वह मुश्किल से एक साल का नन्हा खिलौना सा था, तब वही किस तरह निर्लज्ज और उद्दंड होकर मुंह हाथ में मिट्टी लपेटकर मेरी गोद में बेधड़क चढ़ा चला आया करता था। तब यह मेरे सामने अजनबी-सा बन कर खड़ा होना भूल जायगा। क्यों न, ऐसा बना खड़ा है जैसे मेरा उससे कभी वास्ता नहीं रहा जैसे मैं उसे कभी जानती ही नहीं सकती। कहा, "खड़ा क्या है बैठा नहीं जाता।"

विनय एक जगह जाकर सकुचित होकर बैठ गया। उसकी मां ने कहा "यह तेरी मां से भी ज्यादा मां हैं समझा ?"

इसपर साहस करके विनय ने इन नयी मां को देखा। उन्होंने कहा,

"इतना बड़ा हो गया, फिर भी डरता क्यों है ? "

विनय झेंप रहा।

सुबह से कुछ खाने को नहीं मिला है क्या ?" इतना कहा और कहने के साथ ही उन्हें सचमुच इन मेहमाना के खाने का ख्याल हो आया। पूछा, "अभी तो तुमने कुछ भी क्या खाया होगा ? और मैं बातों में लगी रही। बहू, देखो इन्हें खाना खिलाना। जा भई, शर्माने की यह जगह नहीं है। रामू, इन्हें ले जा।"

आकस्मिक, अप्रत्याशित रूप से जब हृदयतल में ऐसी आवभगत सिर पर बरसी पड़ रही है, तब किस प्रकार वाग्विमूढ़ हुए बिना रहा जाय ?

रामू विनय को लेकर चला तो। चौके के द्वार पर वह तनिक ठिठक रहा। वहीं से रामू ने कहा, "भाभी, अम्मा ने इन्हें भेजा है। यह खाना खायेंगे।"

भाभी जिनको कहा गया, उन्होंने झटपट उठ उठाकर पटड़ा बिछा दिया, थाली ला रखी, पानी भरकर रख दिया और फिर खुद चूल्हे के पास पहुंच गयीं।

इस वक्त तक विनय भी उस कमरे में प्रवेश कर चुका था। इस बालक के बराबर ही अपने को मानकर, उसी के सुर में सुर मिलाकर वह अब इन्हें भाभी ही समझ लेगा। चुपचाप वह पटड़े पर बैठ गया।

आज जीवन में यह उसका कैसा दिन है ! दिल उछल रहा है और वह घबड़ा रहा है। इस देवताओं के घर में उसे लाकर अवगुण्ठनवती अन्नपूर्णा के सामने ला बिठाया गया है। वह क्या किसी तरह यहां से शून्य होकर चुपचाप विलीयमान नहीं हो जा सकता। क्योंकि बिछुआ की रुन झुन जो अभी हो रही है वह उसके कानों में बज रही है और उसकी दृष्टि उन चरणों में हठ करके जा पहुंचना चाहती है जो यहां वहां डाल-कर, एक निराला संगीत उत्थित करके, उसकी गूंज अवशेष छोड़कर अब चुपचाप उन देवी का सुकोमल भार अपने ऊपर लिए अलंकृत और धन्य होकर विराज रहे हैं। और वह अपनी दृष्टि को किसी भी तरह वहां तक नहीं पहुंचने देना चाहता। चाहता है, यहीं मैं मर जाऊं और ये चरण मेरी मुंदी आंखों को ठोकर मारकर स्पर्श कर जायं। यह मेरे लिए बहुत है।

खुली आखो से मैं उन्हें नही देख सकूगा।

जीवन मे पहले रोज आज स्त्री उसके सामने पूर्ण वदान्यता, भक्त-वत्सलता अपने स्नेह से अलकृत वरदा देवीमूर्ति के रूप मे आयी और अपने को उसने उसके समक्ष तनिक कृपा कोर के अनुग्रह के भिखार्थी भक्त के रूप मे पाया।

अब हम अपनी 'भाभी' के पास आ गये हैं। यहा से हमारी कहानी का आरम्भ होता है।

३

थाली मे आख गाडकर धीरे धीरे उसने खाना आरम्भ किया, लेकिन बडी कठिनता होती है। मुह मे जो कम ज्यादा ग्रास जाता है इसकी पर्वाह बिलकुल नही है। पर थाली की ओर ही देखते रहने का जो अत्यधिक ध्यान रखना पडता है वह मुश्किल है। जब किसी के हाथ आगे बढकर विनय की थाली मे रोटी डाल जाते हैं, तब मुश्किल बहुत बढ जाती है। वह हाथ झन्पट बढते और काम करने पर उससे भी शीघ्र खिच जाते है, कन्नी ऊगली के पासवाली उगली मे सोने का छल्ला पडा है, वे हाथ बडे चतुर हैं बडे गोरे गोरे हैं। क्या वह उन्हे देखना चाहता है? नही, उन्हे बिलकुल ही देखना नही चाहता। पर वही जब बढकर आगे आ पडते हैं, तो क्या किया जाय! थाली के सिवा किसी भी तरफ देखने से उसे सरोकार नही है इच्छा नही है, यह उसका भगवान जानता है। लेकिन आखो का क्या करे जो थाली की परिधि मे घिरकर चुप सीधी तरह होकर बठती नहीं।, इधर उधर थोडी-बहुत उठ ही जाती हैं।

ऐसे आत्यंतिक यत्न की क्या भीड आ पडी है? कोई है थोडे ही जो उसकी आखो की चौकसी करता बैठा है! किसने चाहा है कि वह थाली मे ही आखें गाडकर बठा रहे? कोई उसके इस यत्न की प्रशसा करने वाला नही है। यह यत्न सरासर अनावश्यक है। घूघट द्वारा सुरक्षित कुल वधू रोटी के जलने न जलने मे बडी व्यस्त है इस यत्न को समझ-देखने का अवसर उसके पास नही है, इसमे व्यतिक्रम पडे तो उसकी भी पर्वाह करने की फुर्सत उसे नही है।

पर, हाय, विनय यह सब-कुछ नही जानता। वह नही देख सकता, नही

देख सकता। कैसे देख सकता है!

लेकिन भाभी क्या कभी १५-१६ वय की नही रही, कि जब विवाह हुआ न होगा, किन्तु विवाह की प्रतीक्षा की आशा स्वर्ण रेखा की भांति उसे स्वप्नाकाश के प्राची दिशा में उदित हो पड़ी होगी और वह उसे विस्मय से देखकर पुलकित होती होगी। जब रंग ऋतु उनके निकट मसन्त होगी, और विश्व प्रणय से पूरित होगा। जब वस्तुमात्र उनके हृदय में हिलोर उठा देती होगी, जो उनकी देह को कटकित करके, फिर उसमें से फूटकर सुख की सिहरन की तरह ब्रह्माण्ड में व्याप्त हो जाय।

जब घूघट उधर मुड़ने की धमकी देता है, तब थाली पर बैठे इस बाल युवक की आखें जो तनिक-तनिक ऊपर उठने का साहस कर रही हैं एकदम मुड़कर थाली में आ जमती है—कभी किशोरिका रही हुई भाभी ने बिना देखे भी यह सब देख लिया। तब इस अबोध अल्हड़ सलोने मुखवाले बालक के प्रति आत्मीय स्नेह के भाव से उनका हृदय भर आया। यह भाभी का प्यार था जो मा का प्यार नही होता क्योंकि उससे स्निग्ध होता है, स्त्री का प्यार नही होता क्योंकि उसमें निरपेक्ष होता है। बहन का प्यार नही होता, जो क्रमश पुष्ट परिपक्व होता है, यह जैसे सोता फूट निकला, हृदय में से स्वत स्फुरित होता है, फिर भी यह सब कुछ होता है।

भाभी ने अब के अपनी वाणी स्फुट करके, घूघट के भीतर से ही, रोटी देते हुए कहा, 'लो।'

विनय ने यह सुन लिया। उत्तर में बोल नही सका। हाथ थाली के ऊपर फला दिये जिसका आशय था कि वह रोटी नही लेगा।

हाथो के बीच में किसी तरह रोटी को थाली में छोड़ देने की भाभी ने चेष्टा की।

हाथो को खूब अच्छी तरह फैलाकर विनय थाली को ऐसी पूरी तरह ढककर बैठ गया कि रोटी का पड़ना सम्भव न हो सका।

भाभी जब अपनी चेष्टा में कृतकार्य न हो सकी तो उन्होने हाथ पर ही रोटी छोड़ दी।

विनय की आशा क्या कभी इस स्वर्ग तक पहुच सकती थी? बिना आयास के अब वह बोल पड़ा, "यह रोटी ऐसी ही पड़ी रहेगी। मैं नही

खाऊंगा।"

भाभी ने उसकी इस बात का कोई उत्तर नही दिया, जैसे पर्वाह ही नही की। वह अपने काम मे लगी रही।

विनय ने फिर कहा, "यह जबर्दस्ती करनी अच्छी नही होती। मैं नही खाऊंगा।"

भाभी ने उत्तर मे करछी मे साग लिया और उसकी थाली मे डाल दिया। विनय अपने हाथ फैलाकर न रोक सका।

विनय इस पुण्य प्रसाद की रोटी को छोड देगा तो जीवन मे पाएगा क्या?

वह पूरी रोटी खतमकर चुपचाप उठकर चला गया।

४

घर मे कुछ हिस्सा इन मा बेटा को रहने के लिए दे दिया गया है। मा नही चाहती कि इस प्रकार दूसरे के अनुग्रह पर रहे लेकिन घर की मालकिन तो अभी किराये की बात सुनने को तैयार नही है। कहती हैं--घर तुम्हारा ही है और विनय कमाने लगेगा तो चाहो तो किराया भी दे देना। मां को लाचार होकर मान लेना पडता है। विरोध मे आग्रह करें, ऐसी परिस्थिति भी नही है।

रहते रहते एक दिन लाला धनीराम और गिरधरप्रसाद की सहायता और उद्योग से विनय की एक दफ्तर मे नौकरी भी लग गयी। वह ३५) लाकर प्रति मास मा को देने लगा। मा ने अब किराया देना भी आरम्भ कर दिया। अब मानो वह अपने हक के बल पर यहा रहने लगी।

पर विनय इस हक कुछ नही जानता। अपने को इन लोगो का कृपानुजीवी ही मानता है। मौका हो तो वह इनकी चाकरी में अपना जीवन बिता दे। इनके हाथो जो स्नेह और आदर उसने पाया है उसकी कीमत क्या रुपया मे आकी जा सकती है। क्या उससे भी बढकर दुनिया मे कोई चीज है? वह जीवन को हिसाब की बुद्धि से नही देख पाता। इसलिए दुनिया के बाजार मे जीवन का कोई बडा लाभकारी सौदा कर सकेगा, ऐसी आशा नही की जा सकती। वह ३५) चुपचाप ले आता है, और न ज्यादा फिक्र करता है न मलाल कि कहीं से और कभी उसे ज्यादा

मिलने लगे। लोगों ने कहा भी है कि उसकी जैसी योग्यतावाले को आसानी से तनिक चेष्टा करने पर ६५) कोई भी दे सकेगा। पर उसे इस पर भरोसा नहीं होता। उसे समझ नहीं आता, वह किधर से योग्य है। इसलिए ३५) जो पाता है उसके एवज में वह मालिका का पर्याप्त से अधिक कृतज्ञ रहता है, असंतुष्ट बिलकुल नहीं रहता। इसलिए, जिसे बेईमानी कहा जाय, वैसा भाव उसमें उपजने नहीं पाता, वैसे काम की बात तो दूर रही। संक्षेप में हम कहें—वह बुद्धिमान् नहीं है।

जब आदमी यहां मिले एक एक खाली मिनट को काम से और सतत चेष्टा से भर, दुनिया की दौड़ में आगे से आगे जाने में लगे हुए हैं, तब यह अपने खाली वक्त को खाली ही रखता है। जिसे समझदार आदमी काम समझ सकें, ऐसी कोई भी बात वह नौकरी से बचे हुए खाली घण्टों में नहीं करता। पदमा नाम की उस तोतली लड़की के साथ तुतलाकर बोलने में और उसे चिढ़ाने मनाने में घण्टा गवा देता है और रामू के साथ तो बड़ी-बड़ी शरारतें करता है। अब ये और ऐसे ही साथी उसको नहीं मिलते, तब बैठकर चित्र खींचने लगता है। नहीं तो उठकर चल देता है और बाग में बंसरी बजाता है। ठाली बैठे कभी कुछ लिख भी देता है। उसके पास इधर-उधर के कुछ अखबार आ जाते हैं, पैसे बचाकर कभी-कभी किताबें भी कुछ खरीद लेता है।

यह घर वैसे लाला लोगों का घर है। उन्हें रुपया कमाने में व्यस्त रहना पड़ता फिर कमाये हुए धन को रखने की चिन्ता में व्यस्त रहना पड़ता है। उनके मिनट मिनट की कीमत है। उनका संसार मुद्रामय है। परमात्मा के इस विश्व के साथ रुपया कमाने के प्रयोजन के रास्ते ही अपना सम्बन्ध इन्होंने जोड़ा है। नहीं तो यह अलग हैं दुनिया अलग है। रुपया आने-जाने के मार्ग के कारण ही दोनों में सम्बन्ध है। यह दुनिया में से अपने अर्थ की प्राप्ति करें और दुनिया इनके निकट अर्थ उर्वर क्षेत्र रहे—इस घर के पुरुष संसार के साथ इसी रिश्ते की धारणा पर जीवन चलाते हैं। और घर का तन्त्र पुरुषों के हाथ में रहता है। इन सब कारणों से घर में अखबार शखबार नहीं आया करते। किताबों में भूतनाथ, चन्द्रकान्ता की जिल्दें हो सकती हैं, और विशेष किताबें नहीं हैं।

इसलिए रामू जब विनय के पास किसी अखबार में से तरह-तरह की तस्वीरें और जगह-जगह की विविध खबरें देख-सुन पाता है तो बड़ा खुश होता है। वह ज्ब-तब विनय के कमरे में आ पहुँचता है, और उसकी अनुपस्थिति में भी किताबों और पत्रों के पन्ने उलट-पलटकर अपना मन बहलाया करता है। मौका पाकर इस तरह की चीजें वह ऊपर भी ले जाता है, और अपनी भाभी को और अम्माजी को दिखाया करता है। भाभी और अम्मा बड़ी खुश होती हैं। भाभी तो एकाध बार रामू के साथ स्वयं आकर विनय की अनुपस्थिति में उसके कमरे की जाँच-पड़ताल कर गयी हैं। अब उनमें इतना साहस आ गया है कि रामू के भी साथ का आसरा न देखें, और खुद विनय कि किताबों की तलाशी लेना आरम्भ कर दें। विनय को यह सब-कुछ भी मालूम नहीं है।

एक दिन ऐसे ही अकेले आकर भाभी ने कोई किताब देखने को उठाई। उसे खोलकर पन्ने एकाध उलटे ही थे कि एक कागज उसमें से निकल पड़ा। उसे देखा, और देखती रह गयी। वह एक चित्र था, पेंसिल से बनाया हुआ था।—कोई महिला परली तरह मुँह किये हुए खड़ी है। एक हाथ से दरवाजे की चौखट पकड़ रखी है एक पैर देहलीज पर रखा है, दूसरा नीचे है, उस पर पर से इसलिए जरा धोती उठ गयी है, और उसकी पिंडलियाँ तक का कुछ भाग उघड़ गया है। उसी तरह उठे हुए हाथ की धोती जा सरकी है और कोहनी तक बाँह प्रकट हो गयी है। उंगली में छल्ला है दो काँच की और एक सोने की चूड़ियाँ पड़ी हैं। वह बिलकुल असावधान है दूसरी ओर किसी से कदाचित् कुछ बात कर रही है।

भाभी तस्वीर देखती रहीं, देखती रहीं। फिर किताब को सँभालकर वहीं-का-वहीं रख दिया, तस्वीर को पास में रख लिया और चली गयीं।

शाम को लौटा विनय। उसे तस्वीर को पूरा करने का ध्यान था। वह अभी अधूरी थी। उसने किताब को जो खोला तो तस्वीर न थी। उसे बड़ा अचरज हुआ। समझा, भूल हो गयी। और किताबें देख डालीं, तस्वीर नहीं मिली। और जहाँ रखने की सम्भावना हो सकती थी, वहाँ देख ली। जब कहीं न मिली तो बड़ा सोच आया। आवाज देकर रामू को बुलाया—"रामू, तुमने कोई तस्वीर देखी है?" रामू ने कहा, "कैसी

तस्वीर ?"

विनय "तस्वीर कैसी मामूली तस्वीर। किसी किताब में तुमने तस्वीर नहीं देखी ?"

रामू, "बहुत-सी किताबों में बहुत सी तस्वीरें देखी हैं। आप जाने किस पूछते हैं।"

विनय, "अरे, बहुत-सी नहीं। इस किताब में मैंने एक खींचकर रखी थी। अभी अधूरी थी। तूने नहीं देखी।"

रामू, "मैंने नहीं देखी।"

विनय, "नहीं देखी तो कहां गयी ? यहां तेरे सिवाय कौन आयेगा ?"

रामू, "मैंने नहीं देखी, मैं कहता हूं। मैं लेता तो बता न देता ?'

विनय, "जाके भाभी से पूछो, हमारी तस्वीर कहां गयी। अभी हमने पूरी भी नहीं की थी।"

रामू "हां हां, उन्होंने ली होगी।'

रामू दौड़कर भाभी के पास गया। बोला, "विनय बाबू तस्वीर की पूछते हैं। तुमने कोई तस्वीर देखी है ? उन्होंने किताब में रखी थी, अब नहीं मिलती।'

भाभी ने साश्चर्य कहा, 'कैसी तस्वीर ? मैं क्या जानूं ? मैं जैसे उनकी चीज चुराने को बैठी हूं।"

रामू ने आकर यही बात विनय से कह दी। विनय को सुनकर बड़ा अफसोस हुआ कि क्यों उसने रामू को भाभी के पास पूछने भेज दिया। कहा, "हां ठीक तो है। वह कोई यहां आती हैं जो ले जायेंगी। मेरी भी क्या मत हुई कि उनसे पूछ बैठा।"

रामू ने कहा, "यहां तो भाभी कई बार मेरे संग आयी हैं।"

विनय, 'यहां आयी हैं ?"

रामू, "हां, यहां आयी हैं। मेरे संग आयी हैं। हम दोनों खूब किताबें देखते रहे हैं।"

यह सुनकर विनय फिर एक क्षण न ठहर सका। सीधे भाभी के पास जाकर बोला, "भाभी, तुमने मेरी तस्वीर ली है ? अभी वह ठीक नहीं हुई है, मुझे दे दो।"

भाभी इस अनपेक्षित उपद्रव पर ठीक समय पर ठीक ढंग से जल्दी में घूंघट नहीं काढ़ सकी। वह बैठी हुई थी, विनय के आने पर, और कुछ बोली नहीं। विनय ने फिर वही बात कही, 'तस्वीर मेरी मुझे दे दो।"

भाभी ने कुछ उत्तर नहीं दिया। वह उठकर चुपचाप दूसरे कमरे में चली गयी।

विनय लज्जित होकर कुछ क्षण वहीं खड़ा रहा। समझ में न आया, क्या करे? लौटकर आया मां जी के पास। देखे, तो वहां पास ही भाभी बैठी है उसने मां जी से कहा, "मांजी, देखो भाभी जी ने हमारी एक तस्वीर रख ली है। हम कहते हैं हम दे दो, अभी वह पूरी नहीं हुई है। वह देती नहीं है।"

मां जी को यह लड़ना बड़ा अच्छा लग रहा है। उन्होंने हंसकर पूछा, "तस्वीर कैसी?'

विनय, "मैंने तस्वीर खींचनी शुरू की थी। किसी ने किताब में से निकाल ली।"

मां, "फिर तुझे कैसे मालूम इसने ले ली?'

विनय, "इनसे ही पूछ लो।"

मां जी ने भाभी से कहा, "ली हो तो दे क्यों नहीं देती—दखू कैसी तस्वीर है?"

भाभी ने घूंघट में से धीरे से कहा, 'यों ही कहते हैं। मैं क्या जानूं कैसी तस्वीर?

मां जी ने और ज्यादा हंसकर कहा, 'वह तो कहती है, मैं कुछ नहीं जानती। इसने नहीं ली होगी, तेरा भरम है।

विनय, "नहीं ली होगी तो यह जानें। लेकिन फिर किसने ली?

मां जी वहीं कहीं फिर देख मिल जायगी।'

विनय ने कहा 'मिलती विलती तो अब क्या है। और गयी है तो जाने दो। लेकिन अभी अधूरी है। किसी ने यह अच्छा नहीं किया, जो ले ली।

इतना कहकर जब वह लौटकर आया तो तस्वीर की याद वह भूल

गया था। एक और तरह का दुख उठा है जो उसके हृदय में प्रदेश प्रदेश म समाता जा रहा है। उसे दुःख हो रहा है कि वह बिना सोचे समझे किस हिम्मत पर तस्वीर का आरोप भाभी के सिर लगा सका? क्या वह इतना बेवकूफ हो जाता है? क्या वह चुप होकर नही बैठ सका, वहा भाभी के मन को क्लेश पहुचाने के लिए ऊधम करता पहुच गया? मां जी के सामने तक भाभी को लज्जित करते उसे लज्जा नही हुई? हाय वह क्या-क्या कर बैठता है! भाभी क्या सोचेंगी, मन में मुझे क्या कहती होगी?

उसका बस चले तो अभी भाभी के पैर पकड़कर अपराध का प्रतिकार कर डाले। पर, बस नही चलता, बेवकूफी के आवेश मे जिस अन्तर को लाघकर एकदम से भाभी के साथ झगड़ने पहुच गया, वह अन्तर प्रकृत अवस्था मे वास्तव मे दुलघ्य हो जाता है। मन मे जो दुस्सह क्षोभ और आत्म तिरस्कार का भाव घुए की तरह उठ-उठकर घुट रहा है, सो भाभी से सफाई का क्षमा-याचना का एक भी शब्द कहने का मौका क्या वह ला सकेगा?—कैसे ला सकेगा? क्योकि प्रकृतिस्थ अवस्था म वह भाभी की परछाई का भी सामना नही कर पाता है इतना डरता है।

स्नान घर जाते समय विनय के कमरे के पास से गुजरना होता है। भाभी गर्मियो मे सुबह शाम दोपहर जब चाहे नहाने लगती हैं। बहुत नहाती हैं। शाम को अवश्य नहाती हैं। उन्हें क्या मालूम आज विनय इस समय कमरे मे ही मौजूद है। स्नान के लिए जाते हुए जो अनायास उन्होने खिड़की मे से कमरे मे झाका तो देखा, विनय। इससे पहले कि भाभी का मुह झुककर नीचे हो जाय, विनय ने भी उसे भरपूर देख लिया। वह मुह हँसता सा था, क्लेश से खिन्न नही था और यह भाभी की मानसिक मूर्ति जो उसके चित्ताकाश में यहा से वहा तक फैलकर उसमें गहरा मनस्ताप उपजा रही थी म्लानमुख थी। वह किसी तरह उसे प्रसन्न वदन देखना चाह रहा था, पर उसका यह प्रयास और यह इच्छा बिल्कुल विफल हो रही थी। अब उसने देख पायी भाभी की सचमुच की खिलती हुई यह मूर्ति तो उसे बड़ा आह्लादकारं विस्मय हुआ। वह आ खड़ा हो गया, आगे बढ़ आया, जोर से बोला भाभी!"

भाभी भी तनिक ठिठक गयी थी, और ठिठक के बाद अब आगे बढ़

जाना चाहती थी। तभी उन्होंने जोर से कहा गया यह सम्बोधन सुना—'भाभी!" वह ठहर गयी।

कमरे की देहली पर हाथ से चौखट पकड़े घूंघट वाली भाभी के सामने वह दोबारा इतना ही—'भाभी!" कह सका और रुककर खड़ा हो गया।

धीरे से भाभी ने कहा, "मां जी से यह तुमने क्यों कहा? कोई जरूरत थी?"

भाभी की वाणी सुनकर आत्म-अभियोग की उसकी ग्लानि विषम नहीं रह गयी। उस वाणी में अभियोग लगाने जैसी ध्वनि नहीं थी। त्रस्त दावेदार बनकर उसे अभियुक्त बनाने वह नहीं आयी हैं। विनय ने कहा, "मुझे इसी बात का बड़ा सोच हो रहा है।"

भाभी ने कहा, "मैंने तस्वीर ली भी है तो उनसे कहने से क्या बनता है?"

विनय "तस्वीर तुमने ली है?"

भाभी 'क्या नहीं लूगी, जब चोरी करके तुम मेरी तस्वीर बनाते हो?'

ओहो! यह बात है!! ऐसी बात वह जानता तो क्या कभी किसी से कहता? ऐसी बात की खुशी में, किसी से कहकर, भला वह अपना फिजूल साक्षी बनाने बैठता। ऐसी बढ़िया चोरी की बात का तो वह अपने मन में ही दुबकाये रखता। बोला, 'तो तुमने मुझे बताया क्यों नहीं?"

भाभी, 'हल्ला मचाकर तुमने जान तो लिया लेकिन यह ठीक नहीं है।'

क्या ठीक नहीं है सो वह कुछ भी न समझ सका। तस्वीर ठीक नहीं है कि तस्वीर का बनना ठीक नहीं है या एकदम से वह खुद ही ठीक नहीं है। वह चुपचाप खड़ा रहा। शायद उसे बताया जायगा कि क्या बात ठीक नहीं है।

भाभी ने तस्वीर निकालकर देते हुए कहा 'लो।' और वह जाने को तैयार हो गयी।

विनय ने कहा 'तो ठीक क्या नहीं है?'

भाभी ने क्षणेक ठहरकर कहा, मेरी तस्वीरें मत बनाया करो।"

विनय ने पूछा, ' क्यों ?"

भाभी ने कहा, "मैं ऐसी मोटी मोटी हू ?"

विनय ने कहा, "अभी तस्वीर पूरी थोड़े हो हुई है ? और तुम दुबली भी नहीं हो।"

भाभी, "नहीं, तुम तस्वीरें मेरी मत बनाया करो।"

विनय ने हँसकर कहा, "अच्छी बात है।"

और भाभी चली गयी।

५

इस तस्वीर वाली बात का आदि लेकर और और छोटी मोटी बातें घटने लगी जिन्होंने इन दोनों के बीच की दूरी को उड़ा दिया। भाभी को कोई देवर प्राप्त नहीं था और देवर स्त्री के जीवन में आवश्यक वस्तु है। एक देवर चाहिए, जिसको अवसर बनाकर, हँसी-खेल-कूद और प्रमोद-विनोद की स्त्री की चपल-सुलभ आमोदात्मक वृत्तियां खिल-खुलकर, तृप्ति लाभ करें। पति के साथ पत्नी एक उत्तरदायिनी, भारवाहिनी, कर्तव्य और अधिकारों की झंझटों के बीच प्रतिष्ठित, धीर, गम्भीर गृहस्थिन है। जीवन का निर्द्वन्द्व आमोदमय अंश पति के साथ पूर्ण आत्मलाभ नहीं पाता, इसलिए भारतीय गार्हस्थ्य में देवर का एक विशिष्ट स्थान बन गया है। वह स्थान अपना अलग है। उसके बिना स्त्री के जीवन में एक अभाव विद्यमान रहता ही है।

भाभी के मानसिक विश्व में खाली पड़े देवर के स्थान में धीरे धीरे विनय का प्रवेश हो चला। उसको पाकर भाभी सब झंझटें भूलकर, कभी-कभी बिल्कुल बच्चा बन जाती हैं, बच्चा, जो निर्द्वन्द्व है, जो बस खेलता हँसता है, रूठता और मनता है, जिसका रोना भी हँसने का एक प्रकार होता है और जिसका रूठना मन ने के लिए होता है, जो शुद्ध तत्काल में वास करता है, जो मुक्त जीव की पूर्ण-से पूर्ण प्रतिकृति है। ऐसा मौका जीवन में उन्होंने पाया है, जिसके लिए न जाने क्या भीतर से कब का अकुलाया बैठा था।

लेकिन अभी घूंघट बीच में अटल रूप में वर्तमान है।

जब भाभी को उसने तस्वीर न बनाने का वाचिक आश्वासन दिया था तभी उसने एक बहुत स्थूलकायिक भाभी का बड़ा चित्र तयार करने का मनसूबा बांध लिया था। अगले रोज से ही वह उसकी 'रफ' रूप रेखा बनाने में लग गया। दफ्तर जाने से पहले पहले उसे खत्म कर लिया और उसी किताब में उसी स्थान पर रखकर चला गया।

जब बड़ी शीघ्रता से बात मानकर विनय ने कह दिया कि वह तस्वीर नहीं खीचेगा, तब क्या भाभी को पूरा चैन हो गया था? या कोई कह सकता है कि वह वैसा चैन चाहती ही थी? 'देखें वह खींचते हैं या नहीं, खींचते हैं तो कैसी खींचते हैं?'—उस समय के बाद कुछ ऐसे भाव से वह आतुर रहने लगी और मौका पाते ही अगले दिन विनय के कमरे में जा पहुची। वहां मिल गया उन्हे वही 'रफ' चित्र—एक पर्याप्त से अधिक स्थूल महिला एक दूर खड़े बच्चे को जो उन्हे चिढ़ा रहा है कुछ हँसी मे और कुछ क्रोध में मारने को दौड़ जाना चाहती है, इस आयास में कमर कुछ-कुछ झुक गयी है, घुटने बल खा गए हैं, एक हाथ जरा आगे को, एक थोड़ा पीछे को पड़ गया है, सब मिलाकर विलक्षण-सा हुलिया हो गया है। इसमें भूल नहीं हो सकती कि यह तस्वीर भाभी की है यद्यपि अत्यन्त अपमान और अतिरंजित है।

भाभी ने चाहा हँसना पर आया गुस्सा। यह आदमी ऐसी बात करेगा? मैं ऐसी हूं? मैं नहीं

और लाल पेंसिल लेकर जोर से गाड़कर उस तस्वीर पर इस कोने से उस कोने तक एक लकीर खींच दी, फिर दूर के चौथे कोने को मिलाती हुई एक और लकीर खींची। फिर बीचो-बीच के काट के बिन्दु पर चौहद्दीनुमा एक खींची। फिर लम्बाई-नुमा। फिर इस बिन्दु को उससे मिलाया उसको इससे। इस तरह एक घना लकीरों का जाल-सा उस पर खींचकर, जहां तस्वीर का मुंह था वहां, वृत्ताकार पेंसिल को जल्दी-जल्दी बार-बार घुमाया। यह सब काम करने के बाद उसे वहीं रख दिया और चली आयीं।

आकर देखा विनय ने। उसने उसे कागज की तहों में लपेटा उसके ऊपर एक रेशमी रूमाल निकाल कर लपेटा और जहां अपनी कीमती

चीजें रखता था, वहां बडी सुरक्षा के साथ रख दिया।

शाम को भाभी ने दो बात करने का अवसर निकाल लिया। कहा, मैंने कहा था, मेरी तस्वीर मत बनाना। फिर क्यों बनायी, और ऐसी खराब।"

विनय ने कहा, तुमने ठीक ही किया जो उसे बिगाड दिया। मैंने अब फाडकर फेंक दिया है।"

भाभी, मैं कोई ऐसी हूगी जैसी तुमने बनायी ? ऐसी होगी, तुम्हारी बहू। मैं तो बच्चो को नही मारनी। वही आकर मारा करेगी और उस तरह से दौडा करगी।"

विनय मेरी बहू ? मेरी बहू ऐसी हो तो फिर क्या कहना है। पर वह मेरे भाग्य मे नही।'

भाभी, 'ऐसा नही कहा करते। राम करे, तुम्हारी बहू जल्दी आए और इमसे भी मोटी आए।"

विनय 'बहू आएगी तो तुम उसे थोडे ही देख सकोगी। तुम मुझसे घूघट करती हो, मैं कह दूगा, वह तुमसे घूघट करेगी। जिसे मैं नही देख सकता वह मेरी बहू को नही देख सकता।"

भाभी इस बात पर घूघट मे स ही ऐसी हँसी कि विनय धन्य हो गया। बोली 'कोई वह तुम्हारी ही बहू होगी, मेरी कुछ भी न होगी ?'

विनय न कहा, कुछ भी कैसे होगी ? घूघट खोल दोगी तो चाहे सब-कुछ बना लेना।"

भाभी मैं कोई आपसे घूघट थोडे ही करती हू। घर का यही शील है करना पडता ही है।"

विनय, तो मैं कब कहता हू—नही। मैं तो यही कहता हू कि तुम मुझसे करोगी और मेरी बहू तुमसे करेगी।"

भाभी, 'मैं भी देखनी हू, कैसे करती है।'

विनय, 'मैं भी देखता हू, तुम कैसे नही करने देती हो।"

भाभी, अच्छी बात है।"

विनय, अच्छी बात है।'

"भाभी, "यही सही।"

विनय "सही क्या ! तुम बहुत करोगी तो मैं हाथ से तुम्हारा घूंघट ऐसा उठा दूंगा कि तुम देखती ही रह जाओगी।"

भाभी इस उद्धत व्यक्ति की दुस्साहसिक बात पर मुस्कराती हुई लौट-कर चली गयी।

६

इस तरह चार साल निकल गये। विनय बाईस-तेईस साल का होगा। रामू बढ़कर पूरा बाबू रामप्रसाद हो गया, १३ साल से कम नहीं है और दुनिया में किसी से कम नहीं है। ऐसी बात करता है फटाफट, कि खूब। अम्माजी को और भाभी जी को बड़ी-बड़ी बातें बताता और खूब शिक्षाएं देता है। आठवें दर्जे में एक पढ़ाई की किताब है उसमें बड़ी बातें लिख रखी हैं। उनका हिन्दी में अनुवाद कण्ठगत करके ऐसे मौकों पर मां जी को सुनाता है कि मां जी दंग रह जाती हैं।

और पदमा का रंग खूब निखर आया है। वह एकदम से खूब सुन्दर लगने लग गयी है। अब बड़ी साफ रहती है, तुतलाकर जरा भी नहीं बोलती, हरदम चोटी किये रहती, यहां-वहां मिट्टी में नहीं खेलती, बड़ी प्यारी लगती है।

और इस घराने में कोई विशेष बात नहीं हुई है। कोई और बालक नहीं जन्मा है, न कोई प्राणी कम हुआ है।

इसे हम उल्लेखनीय बात नहीं कहते कि विनय इस घर का अंग अंग जैसा हो गया है। सबसे खुलकर हंसता-बोलता है, मिलता-जुलता है। कुटुम्ब के दुख-सुख का शरीक है। यह सब कुछ तो चार वर्ष के सहजीवी जीवन में हो ही जाना था। लेकिन जो नहीं होना था, वह नहीं हुआ। अर्थात् घूंघट नहीं उठा।

वह भाभी से कई बार कह चुका है कि भाभी अगर समझें कि उसने उनको नहीं देख लिया है, सो गलत है। वह सब जानता है—कैसी हैं, कमी नहीं, कोई बहुत सुन्दर तो हैं नहीं। फिर भी बहुत बड़ा घूंघट आगे रखकर अपनी दृष्टि का अवरोध करना चाहती हैं तो उनकी मर्जी।

भाभी यह सुनकर मन में हंसकर घूंघट थोड़ा आगे और सरका लेती हैं।

क्या हम कहें कि इस पर्दे ने इन दोनो मे एक दूसरे के प्रति निकट आने की इच्छा को, एक-दूसरे से परिचित हो जाने के लोभ को बढाने और कायम रखने मे कुछ विशेष विशेष सहायता पहुचायी।

विनय ने अपनी निधि मे दो-एक वस्तु और सग्रह कर वृद्धि कर ली है। एक पौने कागज का टुकडा है, जिसमे इस विनय को लक्ष्य करके लिखा गया है कि 'वह बडा शैतान है। हम बडा दिक करता है। हम यह अच्छा नही लगता।' एक रुमाल चोरी करके छिपाकर रख लिया गया है। एक दफे होली के दिन भाभी ने एक फूल दिया था। वह ऐसा था कि उसे छूओ तो एकदम से हाथ मे बहुत से काटे चुभ जाय। देखने म यह बडा लुभावना था। उसे भी खब सभालकर अपने कोष म बन्द करके रख लिया है।

भाभी ब्याह की बात को लेकर उसे अब बहुत चिढाती है। क्य कि उसका ब्याह अब होने वाला है। पहले जैसे विनय वह की बात पर मुहफट होकर भाभी के साथ बहुत सवाल जवाब कर लिया करता था अब नही कर पाता। अब जल्दी झेंप जाता है। यद्यपि ब्याह विषय बातचीत की बात नही रह गया है यह सचमुच कुछ ही दिनो म सम्पन्न हो जाने वाला है और सच बात है बार म बहुत सुखर नहीं हुआ जाता।

सोचता है यह बनकर जो अबोधा आयगी उस दिन भाभी को सौंप-कर कह देगा—यह तुम्हारी है। इस अब बताओ। इसे अपनी जैसी अपनी छोटी बहन बना लो। उसके जरिये भाभी के मन म यह और निकट पहुच जायगा और उनकी सदा की सौगंध निकाल लेगा।

भाभी के दिल मे जाने क्या उछाह है! इस विनय की बहू आयगी उसको वो आद भगत के साथ अपने हृदय के पास बिठा लेंगी और लाड लडायेंगी। और उस ठेठा करेंगी भी खूब। उस को और उस को सजायेंगी कि विनय ने भी क्या देखा होगा। सजाकर फिर विनय के कमरे म मूद आयेंगी। क्या कवि बनते फिरते हैं! सब ठीक हो जायेंगे। मौन-मन म पने दोनो। फिर भाभी को भूल जायेंगे। ये कितने होते हैं पहले बड़े निर्लिप्त बनते है पीछे बीबी के गुलाम ही हो जाते है। सो ही इनका हाल होगा। फिर कहा भाभी, कौन भाभी!

यह सब सोचकर उन्हें कसकता-सा सुख होता है। जो ज़रा ज़रा लगता तो है, पर पर मजेदार भी बड़ा है।

लेकिन विधि किस किस के जी की रक्षा करके आगे चलेगी? भाभी के जी-के जी में रह गयी। कठिन रोग-ग्रस्त होकर उन्हें पहाड़ जाना पड़ा। इसी बीच विनय का ब्याह हो गया।

वह आयी। बड़ी सुन्दर, हँसमुख, कुछ पढ़ी लिखी भी। मगनगान हो रहे हैं बधाइयां गायी जा रही हैं लेकिन इनमें क्या हो! भाभी तो घर हैं नहीं। विनय का मन खोखला हो रहा है।

विनय की बहुरिया को देखने की उत्सुकता में, जिसके बारे में उन्होंने सुन लिया है बड़ी अच्छी है बड़ी जल्दी सफ़र के लायक स्वास्थ्य लाभ उन्होंने कर लिया, और घर आकर ही मानीं।

पलंग पर लेटी हैं। जैसे शुभ्र सिकता विस्तार में क्षीण-कटि सरित सोती पड़ी हो।

विनय आकर चुपचाप पलंग की पटिया पर हाथ रखकर धरती पर बैठ गया। मां जी पास ही बैठी थी पहले आकर उनका आज चरणस्पर्श नहीं किया बैठते बैठते ही उन्हें प्रणाम कर लिया।

भाभी के मुंह पर हलका कपड़ा पड़ा था।

विनय ने कहा 'भाभी! कैसी हो?"

भाभी ने आंख खोली और सिर का कपड़ा तनिक ठीक कर लिया।

इतने में मन्थर गति में ठिठकती हुई विनय की बहू आयी।

विनय ने कहा, 'भाभी देखो कौन आ रही है।'

भाभी क्षीण मुस्कराहट से हँसी और उठ बैठने की चेष्टा करने लगी।

लगभग साथ ही—

मां जी बोली, लेटी रह लेटी रह।

विनय बोला हैं हैं उठो मत!'

बहू दरवाजे से लगकर ही खड़ी रही। आगे नहीं आ सकी।

मां जी ने कहा "आ जा बनी!

भाभी ने मन्द स्वर में कहा, आओ।'

विनय ने कहा 'यह भाभी हैं। इनके पैर छुओ।'

बहू पैर छूना-जैसा करके पलंग के पायते, सकुची हुई बैठ गया।

तभी नौकरानी ने आवाज दी, "मा जी..."

विनय ने कहा, "तुम कब से बैठी होगी, मा जी, अब जा सकती हो।"

मा जी ने कहा, 'अभी आती हूँ।" बाहर-छज्जे पर से झांककर नौकरानी से पूछा, "क्या है ?

नौकरानी ने जल्दी-जल्दी जीभ की कैंची चलाकर कितनी ही बातें एक मिनट में कतर डाली। मा जी की समझ में उनका चौथाई भी नहीं आया। इसी तरह इस दासी की ओर बड़-बड़ न जारी रहे, इसलिए झल्लाती हुई मा जी स्वयं नीचे चली गयीं।

भाभी ने पायते बैठी हुई पर्दावेष्टित बहू को इशारा किया कि उसे ऊपर पलग पर ही भाभी के पास आ बैठना चाहिए और विनय की ओर संकेत किया कि उन्हें और काम हो तो इस समय कर सकते हैं।

विनय ने कहा, "तुम इन से बिलकुल नहीं बोल सकती हो, जब तक मैं तुमसे नहीं बोल लूगा। मैं तुम्हें देख लूगा, तब तुम इन्हें देख पाओगी।"

इतना कहकर पलग पर पड़े हुए भाभी के बायें हाथ को विनय ने पकड़ लिया। वह हाथ विनय की पकड़ में ज्यों-का-त्यों टिका रहा।

भाभी ने कहा "मुझे उठा दो।"

विनय ने कह दिया कि उन्हें उठने का खयाल नहीं करना चाहिए। बिलकुल आराम से लेट रहना चाहिए। यह भी औषधि का अंश है।

भाभी ने विनय को अपनी कसम दिलायी।

लाचार सहारा देकर उन्हें उठाकर तकिया का सहारा लगाकर बैठा दिया।

भाभी ने तनिक झुककर बहू की बाह पकड़ कर उठाने की चेष्टा की। इसे आज्ञा समझकर वह स्वयं उठकर पलग पर आ बैठी।

उसे गोदी में समेट लेने की चेष्टा सी करते हुए, बहू के घूघट में अपना घूघट डालकर भाभी ने उसे देखा। देखती रहीं, फिर झट बहू का चुम्बन ले लिया।

विनय ने कृतार्थ भाव से यह सब देखा।

उन दोनों के अलग हो जाने पर विनय ने कहा, "भाभी को लेट जाने दो।'

कहने के साथ ही, बिना कुछ प्रतीक्षा किए उन्हें उसी तरह सहारे से लिटा दिया। मुह उनका अपनी तरफ रखा।

विनय ने कहा 'भाभी!'

भाभी ने कहा, "इन्हें छोड जाओ। तुम जाओ।"

विनय ने उत्तर मे कहा, 'अच्छा।" और बहुत धीरे से दोना हाथो से घूघट उठाकर पीछे को पलट दिया।

भाभी ने कुछ विरोध किया, ऐसा नही जान पडा। घूघट म से उनका हँसता हुआ क्षीण क्षीण मुख मानो आशीर्वाद देता हुआ प्रकट हो गया।

विनय ने कहा, ' भाभी, नाराज तो नही हुइ ?"

भाभी केवल हँसती रही।

७

विनय ने पत्नी स कह दिया, देखो मेरी मा के बाद दूसरी तुम्हारे लिए बडी यह भाभी हैं। इनसे तुम हँस खुश भी सकनी हो और इनसे बहुत-सी सीख भी सीख सकती हो। इनसे जितनी अभिन्न होकर चलोगी उतना ही जीवन मे तुम्हारे मिठास आ जायगा ?"

लेकिन यह सब कुछ पत्नी को कहने-सुनने की जरूरत थी, ऐसा नही जान पडा। पत्नी ने तो आते ही देख लिया कि भाभी जैसे प्रेम से अपना लेनेवाली हैं, वैसी और कोई नहीं है और उनके अपनाने म बडप्पन का भाव बिलकुल नही है। उनसे मिलकर न रहा जायगा तो फिर किसस रहा जायगा। वह आते ही अनायास बिलकुल भाभी की बन रही।

यह नयी बहू भाभी के कारण खुद खुश रहती है और भाभी के भी खुश रहने का निमित्त बन गयी है। बहुत-कुछ इस वजह से कुछ कहना चाहिए विनय की सलग्न परिचर्या के कारण कुछ और वजहो से जिनम शायद डाक्टर की दवाई भी एक हो सकती है, भाभी चगी हो गया।

उस समय के बाद इन दोना बहुओ की चहचहाहट, ऊधम-दगा और हँसी का कहकहा समय-बे समय सुनाई देने लगा। भाभी सारे तन-बदन

से ऐसी उन्मुक्त हँसी हँसतीं कि उसकी लहर लहराती लहराती सारे मकान मे गूज जाती। अब यह विनय के कानो मे पहुचती तो वह धन्य हो जाता, इस खुशी की फुहार मे मानो नहा जाता। और वह भी किसी तरह से कम जोर की हँसी न हँसती। घर सदा हँसता रहता।

ये दोनो खेलते ही थे, विनय भी वक्त निकालकर इनमे शामिल हो जाता था। मा दोनो इस बात से बडी खुश थी।

अब विनय को बडा अचरज था कि यह भाभी उससे कभी कैसे परदा कर पाती थी। विनय गिनगिनाकर और वक्त-पते की बात बताकर भाभी को सुनाता था कि कैसे वह भाभी को लुके छिपे देख लिया करता था। एक दफे बाल सुखाने धूप मे बैठी थी तुम्हे पता भी न था कि मैं छत पर धूप मे बैठा अखबार पढ रहा हू। बाल तुम्हारे पीठ पर फैले थे, कुछ मुह के आगे आ रहे थे। तब मैंने खूब अच्छी तरह तुम्हें देख लिया था, लेकिन जी भरकर एक ही बार देखा, फिर ख्याल आ गया, फिर नही देखा।

भाभी यह सुनकर कहती 'तुम बडे वैसे थे। मुझे क्या पता था, तुममे यह गुन भी थे। फिर वैसे ही देख लिया था तो पर्दा क्यो खुलवाया ? मैं जानती तो कभी न खोलती।"

विनय कहता "अब फिर कर लो। अब क्या बिगड गया ?"

भाभी खिलखिलाकर हँस पडती। कहती "कर ही लूगी। नही करूगी तो गुजारा कैसे होगा।"

ऐसे समय कभी विनय की पत्नी होती थी तो वह, नही तो विनय स्वय भाभी की धोती के सिर के पल्ले को मुह के आगे तक खीच देता। कहता, 'लो, अब तो हो गया।'

भाभी कहती, 'हो गया तो बस, मुझसे मत बोलना।"

इतना कहकर वह तनकर मुह फेरकर बैठ जाती।

जिसने पर्दा किया था उसीको लाचार फिर घूघट को हाथ से उठाकर ऊपर सरका देना पडता। भाभी फिर सीधी होकर बैठ जाती। कहतीं, 'बस चैन नही पडा। अब अपने आप क्या उठाया ?"

इस तरह के अभिनय आये दिन होते रहते और घर को स्वर्ग बनाये रखते। अलग रहते किसी को चैन न था, मिल बैठते, ऊधम मस्ती शुरू हो

जाती, तब उन लोगों के जी में जी आता।

यह नहीं कि खटपट नहीं हो जाती थी। बासन न खटकें तो बासन कैसे ? यह भी तो होता रहना चाहिए। पर खटपट से मिलन का मिठास और गहरा हो जाता था। एक रूठे नहीं तो दूसरे को मनाने का मौका कैसे हाथ आये। और दो रोज अलग-अलग होकर दोनों के मुंह न फूले रहें तो तीसरे रोज साथ बैठकर दोनों आंसू कैसे बरसा पायें। इसी तरह के आवर्तन प्रत्यावर्तन का नाम जीवन है। नहीं तो जहां गुदगुदी 'रेतीली' समतल धरती ही है लोग उस रेगिस्तान का ही क्यों न पसन्द करें, क्यों घास-पात से मैली-कुचैली धरती में और हल चलाकर उसे ऊबड़-खाबड़ करके अन्न का बीज छोड़ें ?

इन लोगों का क्या हरियाला जीवन है ! कैसा चुहल से भरा है। कहो मैला बादल नहीं है। चारों ओर भविष्य में जहां तक निगाह जाती है, हरियाली-ही-हरियाली है।

८

इच्छा होती है कि यहीं हमारी कहानी सम्पूर्ण हो जाती। कहानी का रस, कहानी का प्राण जहां खिल उठा है वहीं हमारी कहानी का कलेवर भी नष्ट हो जाता, आयु व्यतीत हो जाती। कैसा दुख है कि दुनिया में पुण्य-क्षय हो जाने पर रस चुक जाने पर भी लोगों को अपना जीवन ढोना पड़ता है। विधाता के, ऐसे विधाता के बेचारा कहानी-लेखक भी अधीन है।

हमारी कहानी मौत की कहानी नहीं है। क्या मौत के बिना कहानी हो सकती है ? मौत को विधाता ने बहुत महंगा नहीं बनाया है। कहानी-लेखक भी इसको महंगी नहीं बनाता।

लेकिन हालत होती है जब मौत भी महंगी होती है। जब मौत से भारी चीज दिल में बैठ जाती है और उसको दिल में लिए लिए फिर-कर आदमी को जीता रहना पड़ता है।

मैं कह चुका हूं उस घर में कभी कभी रगड़ हो जाया करती थी। लोग जब बहुत निकट होकर मिलते हैं तब उनकी स्वभाव विषमताएं एक-दूसरे को स्पर्श करती हैं। उस समय तो उन्हें एक प्रकार का सुख

होता है, जसे फोडे को हलके हलके छूने मे। जब और पास आते है तब स्वभाव की उभरी हुई विषमताए टकराती हैं। उस समय दातेदार पहियो की भांति एक-दूसरे को निभाकर, रल-मिलकर, एक-दूसरे पर निर्भर रहकर, चलन लायक अन्तर-सम्मिलन (Adjustment) उनमे किसी तरह नही हो जाय तो बडी गडबड होती है। वे मानो एक-दूसरे को काटने दौडती हैं, आपस मे टकराकर एक-दूसरे को नष्ट करने की प्रवृत्ति होती है, टक्कर म चिनगारिया निकलती हैं। ऐसे समय यदि मनुष्य की रीढ (Axle) अत्यन्त दृढ हो, तो वह इन टक्करो से डरकर पीछे नहीं हट जायगा अर्थात शत्रुता पैदा करके या और कारण से अपनी निकटता मे विच्छेद नहीं डालेगा, बल्कि बहुत धीरज से काम लेगा। अन्त मे ऐसा समय आयेगा कि या तो वे विषमताए मिल (Adjust) बैठेंगी या रगडते रगडते बिल्कुल नष्ट हो जायेंगी और भीतर से सहज समान मनुष्यता प्रकट हो जायगी। लेकिन ऐसा होता नहीं है। जब ऐसा भीषण समय उपस्थित होता है, तब संघर्ष से घबराकर मैत्री और प्रेम का सम्बन्ध ही लोग एक-दूसरे से तोड लेते हैं, डटे नही रहते।

विनय एक दिन आता है तो देखता है, मकान जैसे सन्नाटा खीच रहा है। लोगो के चेहरे भारी-भारी हो रहे हैं। बच्चे खेल नही रहे हैं। सब सुन्न हालत मे हो रहा है।

उसे मालूम हुआ कि आधा घण्टा हुआ घोर वाग्युद्ध मचकर चुका है। उसे और मालूम हुआ कि उसके आरम्भ से ही भाभी मूर्छा मे पडी हैं।

ऐसी क्या बात हो गयी ? क्या हुआ ?

इसका कारण उसने जाना तो काठमारा रह गया। नीचे से धरती खिसक गयी।

विनय की पत्नी ने अपने इस विश्वास का दो-एक से प्रकट किया कि उसके पति की नजर ठीक नहीं है और भाभी भी

इसी बात को लेकर माँ जी ने घोर आपत्ति की है और विपुल कोलाहल मचाया है।

विनय की मा ने भी उसके उत्तर मे कराल तडिद्-गर्जन किया है।

इस तर्जन-गर्जन में अनुसन्धान करने की आवश्यकता का किसी पक्ष

को ध्यान नही रह सका है।

मूर्छा की बात जानकर उसने भाभी के पास दौड जाने का इरादा किया था, लेकिन अब अपने इस काले मुह को लेकर क्या वह बाहर निकल सकेगा? वह अपने को कोठरी मे अच्छी तरह से बन्द कर बैठ रहा।

रोया तो, पर रोने से क्या आना है? और पत्नी पर रोष करने से भी क्या हाथ आता है?

उसने अपने को पत्नी की हालत मे डालकर सोचा कि क्या वह अपने सम्पूर्ण जीवन मे पत्नी के ध्यान को ऐसा रमाकर बैठ सका है कि सब कुछ, और सब कोई वहा से मिट जाय। वैवाहिक प्रेम का ऐसा ही विदेही आदश उसने अपनी कल्पना मे माना है। उस आदश के नीचे बैठकर, आज की घटना पर वह खूब रोया रोष तनिक भी किसी पर नही कर सका। अपने हीन जीवन को भाभी की दृष्टि से कही दूर ले जाकर ओझल बना लेगा। उसकी हीनता की कालिख की छाया भाभी के पास नहीं पहुचने पायेगी।

अब वह भाभी की पदध्वनि से डरने लगा। कही उनके आने की सम्भावना होती तो रास्ते से छिटककर दूर भाग जाता। दुर्भाग्य से कभी सामने पड ही जाता तो गडकर नीचा सिर करके ऐसा खडा हो जाता कि यही गडा ठूठ हो। एकाध बार चारो ओर से कमरे को बन्द करके खिडकी मे से भाभी आती हो तो देखने के लिए इन्तजार किया है। पर उनके उधर से आने की आहट मिली कि साहस चूक जाता है और वह मुह छिपाकर नीचे को बैठ जाता है।

उसी रोज से वह दूसरा मकान देख लेने के यत्न में है। पर शहर में मकान यो ही नही रखे होते।

अब कभी-कभी भाभी की हँसी उस तक पहुचती है तो वह निमग्न होकर कानो की राह अमृत की तरह उसे पीता रहता है। अब कब उसे यह वस्तु मिलेगी? और नही मिलेगी, जो साथ ले चलेगा, वही ले चलेगा। मानो इस भाव से वह भाभी की रूसी मटकी वाणी और भाभी की हँसी को अपने भीतर सग्रह करता है।

उसने एक बार भाभी को अब भी बडी हिम्मत करके देख लिया है। जरा जरा देखा है। वह रूप हृत्पट पर, कैमरे के प्लेट की भांति अंकित हो गया। वह वैसा ही सदा की भांति निर्विकार मुख है। मानो कोई हरी-सी वस्तु उठी थी, वह घनी हुई तो किसी ने उसे काला बता दिया, खैर लेकिन अब वह उनके आकाश में धुल धुलाकर साफ हो गई है। कोई निशान नहीं छोड गयी।

क्या विनय की यह धारणा मधुर है? सत्य है?

क्या सच वह वस्तु भाभी के अन्दर में कोई अभाव, कोई दाग, दर्द की कोई जरा-सी जगह बनाकर नहीं छोड सकी, जहां कभी कभी स्मृति भटकती भटकती आ टकरे और वहां थोडी विचरने लग जाय?

६

विनय ने दूसरा मकान किराये पर ले लिया। यहां चित्र बनाने में उसका अधिक समय जाने लगा। सौभाग्य कि एक धनी पडोसी का ध्यान उन चित्रों की ओर गया। उसने उन्हें बहुत सराहा। वह पसन्द का आदमी था। चित्रों का आशातीत मूल्य विनय को मिलने लगा। दुनिया की आंखों में अब वह और हो गया। प्रसिद्ध हो गया है, पैसे वाला गिना जाता है। पैसेवाला है, इसमें सन्देह नहीं, लेकिन पैसेवाला-सा दीखता नहीं है। सब-कुछ उसने जमा कर छोडा है, समझता है वह मेरा नहीं है। फिर किसका है? कहता है, एक का है। हम उसके मन की बात बता दें, तो वह उस सबको भाभी का मानता है। चित्रों का सब धन भाभी का है। भाभी के बिना वह चित्रकार हो सकता था, यह अकल्पनीय है।

एक दिन उसने अखबार में देखा, एक रामप्रसाद बी० ए० में पास हुआ है। उसने शहर में बहुत बडी पार्टी की। रामप्रसाद भी उसमें आया। पार्टी के बाद रामू ने कहा, "अम्माजी की तो आपको खबर होगी?'

विनय ने कहा, "क्या?"

रामू ने कहा, "उनका तो पिछले महीने ही स्वर्गवास हो गया। भाभी भी तब से ऐसी रहती हैं।"

विनय ने कहा, "अच्छा ?"

रामू ने कहा, "मुझे नहीं मालूम था कि आप ही चित्रकार हैं। नहीं तो मैं बुला ले जाता।"

विनय ने कहा, "हां"

राम ने कहा, "चलियेगा ?"

विनय ने पूछा, "कहां ?"

रामू, "भाभी के पास नहीं चलियेगा ?"

विनय, "हां"

रामू, "अभी तो आपको फुरसत नहीं होगी। आप कहें तो मैं परसों आऊं ?"

विनय, "पद्मा कैसी है ?"

रामू, "उसकी शादी हो गयी है।"

विनय, "परसों तुम आओगे ? तो कल भी आना, कल फिर पार्टी है, जरूर आना। फिर परसों चलेंगे।"

रामू, "जरूर चलियेगा।"

विनय, "कल जरूर आना।"

अगले रोज फिर पार्टी हुई। रामू ध्यान रखकर शरीक हुआ।

लेकिन परसों जब वह आया, तो विनय बाबू थे नहीं। जाने कहां चले गये थे। चपरासी ने एक लिफाफा उसे दिया, जिसमें उसके नाम का ५०,००० रुपये का ड्राफ्ट था।

वह निराश होकर लौट आया और भाभी के सामने विनय की जगह उसका दिया ५०,०००) का कागज का टुकड़ा लाकर रख सका। भाभी ने उसे लिया और तकिये के नीचे रख लिया।



कथा-मनीषी श्री जैनेन्द्र कुमार

सन 1905, कौड़ियागंज,—
जिला अलीगढ़ (उ० प्र०)

शिक्षा ऋषभ ब्रह्मचर्याश्रम हस्तिनापुर (उ०
लोक जीवन क्षेत्र सन्-1920 में असहयोग
आन्दोलन और कालिज त्याग। डॉ० हेडगेवार,
रवीन्द्रनाथ ठाकुर व महात्मा गांधी के सम्पर्क में
और अनेक बार कारावास।

साहित्य क्षेत्र में प्रवेश सन् 1929 में
पहला कथा संग्रह 'फांसी'। 'परख' उपन्यास का
सृजन और पुरस्कृत। जैनेन्द्र
के विचार (1937)।

इनके साहित्य प्रवेश पर विज्ञजनों में
हलचल और कतिपय विज्ञों के विचार।

" तुम गोर्की क्या चाहते हो? हिन्दुस्तान
में कोई गोर्की है, या हो सकता है तो वह
जैनेन्द्र है।" —प्रेमचन्द

" जैनेन्द्र के विचार पढ़कर मैंने ऐसा
आनन्द अनुभव किया जैसा टाल्सटोय को पढ़ते
समय हुआ बल्कि उससे भी विशेष।"

किशोरलाल मशरूवाला

" हिन्दी साहित्य के कथा-क्षेत्र में हमने
जैनेन्द्र में रवि और शरत् बाबू का एक ही
साथ पाया। —मैथिलीशरण गुप्त

अधिकांश कहानियों, उपन्यासों व निबंधों
का देशी विदेशी भाषाओं में अनुवाद।
राज्य व केन्द्रीय सरकार तथा संस्थानों
द्वारा अनेक बार पुरस्कृत और सम्मानित।

'पद्मभूषण' से अलंकृत। सन 1972 में आगरा
व सन् 1973 में दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा
डी० लिट की मानद उपाधि। नेशनल अकादमी
द्वारा फलोशिप।

जैनेन्द्र कथा साहित्य एवं चिंतन के विभिन्न
आयाम पर करीब चालीस विद्वानों ने
पी० एच० डी० प्राप्त की है और
अनेक कार्यरत हैं। □□□